TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL LIBRARY

OU_176453

UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H181.4 Y85A   Accession No. P. G. H455

Author विवेकानन्द

Title आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग

This book should be returned on or before the date last marked below.

आत्मानुभूति
तथा
उसके मार्ग

स्वामी विवेकानन्द

अनुवादक—श्री मधुसूदन
एम. ए., एल-एल. बी.

(तृतीय संस्करण)

श्रीरामकृष्ण आश्रम,
नागपुर, सी. पी.

जुलाई, १९४८]   [मूल्य १।)

प्रकाशक—
स्वामी भास्करेश्वरानन्द,
अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, सी. पी.

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प दसवाँ

(सर्वाधिकार स्वरक्षित)

मुद्रक—
रतिलाल वाड़ीलाल शाह,
सर्वोदय प्रिंटिंग प्रेस,
सुभाषचन्द्र रोड, गणेशपेठ, नागपुर

अनुक्रमणिका

विषय		पृष्ठ
१. आत्मानुभूति की सीढ़ियाँ	....	१
२. धर्मजीवन की साधनाएँ	....	२२
३. शाश्वत शान्ति का पथ	....	४७
४. मन का सामर्थ्य	....	६३
५. खुला रहस्य	....	८८
६. भक्ति	....	१०३
७. कर्म का रहस्य	....	१३१

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३. **श्रीरामकृष्णवचनामृत**—तीन भागों में—अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'निराला', प्रथम भाग (द्वितीय संस्करण), मूल्य ६); द्वितीय भाग—मूल्य ६); तृतीय भाग—मूल्य ७॥)

४-५. **श्रीरामकृष्णलीलामृत**—(विस्तृत जीवनी)—(द्वितीय संस्करण)—दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ... ... ५)

६. **विवेकानन्द-चरित**—(विस्तृत जीवनी)—सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६)

७. **विवेकानन्दजी के संग में**—(वार्तालाप)—शिष्य शरच्चन्द्र, मूल्य ५।)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

८. **भारत में विवेकानन्द** (प्रेस में)

९. **धर्मविज्ञान**	(प्रथम संस्करण)	... ...	१॥=)
१०. **कर्मयोग**	(प्रथम संस्करण)	... ...	१॥=)
११. **हिन्दू धर्म**	(प्रथम संस्करण)	... .	१॥)
१२. **प्रेमयोग**	(द्वितीय संस्करण)	... ...	१।=)
१३. **भक्तियोग**	(द्वितीय संस्करण)	.. .	१।=)
१४. **परिव्राजक**	(तृतीय संस्करण)	.. ...	१।)
१५. **प्राच्य और पाश्चात्य**	(तृतीय संस्करण)	... ...	१।)
१६. **शिकागो वक्तृता**	(चतुर्थ संस्करण)	... ...	॥=)
१७. **मेरे गुरुदेव**	(तृतीय संस्करण)	... ...	॥=)
१८. **हिन्दु धर्म के पक्ष में**	(प्रथम संस्करण)	... ..	॥=)
१९. **वर्तमान भारत**	(द्वितीय संस्करण)	... ...	॥)
२०. **पवहारी बाबा**	(प्रथम संस्करण)	... ...	॥)
२१. **मेरा जीवन तथा ध्येय**	(प्रथम संस्करण)	... ...	॥)

२२. **मरणोत्तर जीवन** (प्रथम संस्करण) ... ... ॥)

२३. **भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ**—स्वामी विवेकानन्द, स्वामी शारदानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी शिवानन्द; मूल्य ॥=)

२४. **मेरी समरनीति** (प्रथम संस्करण) ... ... |≡)

मराठी विभाग

१-२. **श्रीरामकृष्ण चरित्र**—दो भागों में—प्रत्येक भाग का मूल्य २|||)

३. **श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा** (द्वितीय संस्करण) ... ... |||=)

४. **श्रीरामकृष्ण परमहंस देव यांचें संक्षिप्त चरित्र** -)॥

५. **शिकागो-व्याख्यानें** (द्वितीय संस्करण)—स्वामी विवेकानन्द ॥=)

६. **माझे गुरुदेव**—स्वामी विवेकानन्द ... ... |)

७. **साधु नाग महाशय चरित्र** ... ... |||)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर, सी. पी.

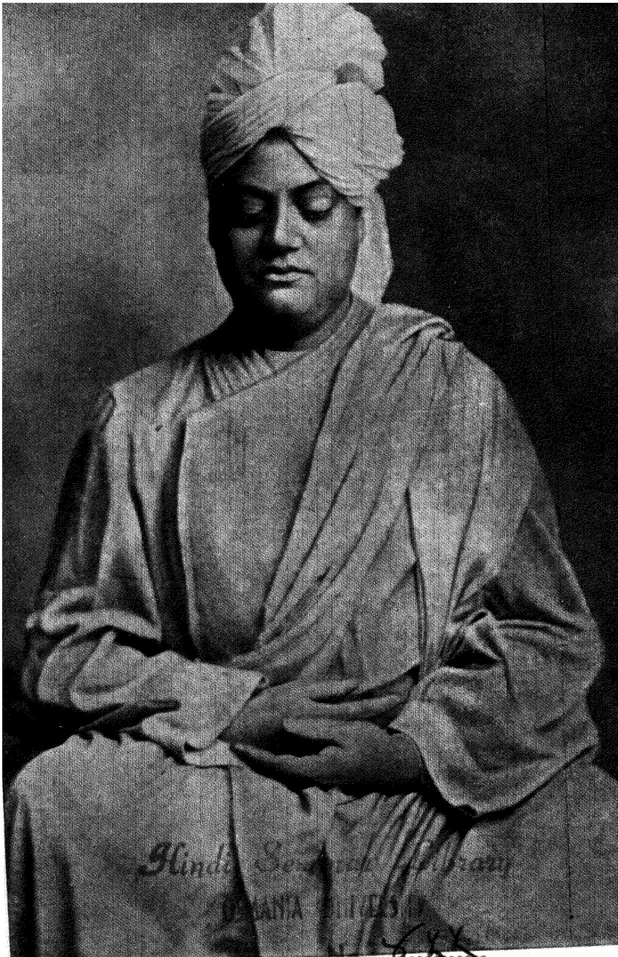

आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग

१. आत्मानुभूति की सीढ़ियाँ

(अमेरिका में दिया हुआ भाषण)

'ज्ञान' योग का अधिकारी बनने के लिए मनुष्य को पहले 'शम' और 'दम' में अपनी गति कर लेना चाहिए। दोनों में गति एक साथ ही की जा सकती है। इन्द्रियों को उनके केन्द्र में स्थिर करना और उन्हें बहिर्मुख न होने देने का नाम है 'शम' तथा 'दम'। अब मैं तुम्हें इन्द्रिय शब्द का अर्थ समझाता हूँ। देखो, ये तुम्हारी आँखें हैं, लेकिन ये दर्शनेन्द्रिय नहीं हैं। ये तो सिर्फ देखने का साधन मात्र हैं। जिसे दर्शनेन्द्रिय कहते हैं वह यदि मुझमें न हो तो बाहरी आँखें होने पर भी मुझे कुछ दिखलाई न देगा। अब मानलो कि देखने का साधन ये बाहरी आँखें मुझमें हैं और दर्शनेन्द्रिय भी मौजूद है, लेकिन मेरा मन उनमें नहीं लगा है, ऐसी दशा में भी मुझे कुछ नहीं दिख सकेगा। इसलिए यह स्पष्ट है कि किसी भी चीज़ के ज्ञान के लिए तीन बातें आवश्यक हैं। वे हैं (१) साधनभूत बहिरिन्द्रिय (आँख, कान, नाक इत्यादि) (२) दर्शनक्षम अन्तरिन्द्रिय (३) और अन्त में मन। इन तीनों में से अगर एक भी विद्यमान न हो तो वस्तुदर्शन न होगा। इस प्रकार मन की क्रिया बाह्य तथा

अन्तर इन दो साधनों द्वारा हुआ करती है। जब मैं कोई वस्तु देखता हूँ तो मेरा मन बहिर्मुख हो उस वस्तु की ओर झुक जाता है, लेकिन जब मैं आँख बंद कर लेता हूँ और सोचने लगता हूँ तो मन फिर बाहर नहीं जा पाता। वह भीतर ही भीतर काम करता रहता है। दोनों ही समय इन्द्रियों की क्रिया जारी रहती है। जब मैं तुम्हें देखता हूँ और तुमसे बात करता हूँ तो मेरी इन्द्रियाँ और उनके बाहरी साधन दोनों ही काम करते रहते हैं, लेकिन जब मैं आँख बंद कर लेता हूँ और सोचने लगता हूँ तो सिर्फ मेरी इन्द्रियाँ ही काम करती हैं, उनके बाहरी साधन नहीं। इन्द्रियों की क्रिया के बिना मनुष्य विचार ही न कर सकेगा। तुम अनुभव करोगे कि बिना किसी प्रतीक के सहारे तुम विचार ही नहीं कर सकते। अन्धा मनुष्य भी जब विचार करेगा तो किसी प्रकार की आकृति द्वारा ही विचार करेगा। बहुधा आँख और कान ये दो इन्द्रियाँ बहुत ही कार्यक्षम होती है। यह बात कभी न भूलनी चाहिए कि 'इन्द्रिय' शब्द से मतलब है हमारे मस्तिष्क में रहनेवाले ज्ञानकेन्द्र। आँख और कान ये तो देखने और सुनने के 'साधन' मात्र हैं। उनकी इन्द्रियाँ तो उनके भीतर रहती हैं। अगर किसी कारण से यह इन्द्रियाँ नष्ट हो जायँ तो आँख और कान रहने पर भी न तो हमें कुछ दिखेगा और न कुछ सुनाई ही देगा। इसलिए मन को काबू में करने के पहले इन इन्द्रियों को काबू में लाना चाहिए। मन को भीतर बाहर भटकने से रोकना और इन्द्रियों को अपने केन्द्रों में लगाये

रखने का नाम 'शम' और 'दम' है। मन को बहिर्मुख होने से रोकना 'शम' कहलाता है और इन्द्रियों के बाहरी साधनों के निग्रह का ही नाम है 'दम'।

दूसरी सीढ़ी—है 'तितिक्षा'। (तत्त्वज्ञानी बनना जरा टेढ़ी ही खीर है!) 'तितिक्षा' सब से कठिन है। कहा जा सकता है कि आदर्श सहनशीलता और तितिक्षा एक ही है। 'दुःख आता है तो आने दो'। 'Resist not evil' इसका मतलब ज़रा स्पष्ट करने की आवश्यकता है। आया हुआ दुःख हम सह लेंगे लेकिन हो सकता है कि साथ ही साथ हम दुःखी भी हो जायँ। अगर कोई मनुष्य मुझे कड़ी बात सुना दे तो सम्भव है कि ऊपर से मैं उसका तिरस्कार न करूँ; शायद उसे जवाब भी न दूँ और बाहर गुस्सा भी न प्रकट होने दूँ, लेकिन मेरे मन में उसके प्रति तिरस्कार या गुस्सा मौजूद रह सकता है। हो सकता है कि उस मनुष्य के बारे में मैं मन ही मन अत्यन्त बुरा सोचता रहूँ। 'प्रतिकार न करना' इसे नहीं कहते। मेरे मन में न गुस्सा आना चाहिए और न तिरस्कार ही, और न मुझे उनके रोकने की आवश्यकता ही होनी चाहिए। मैं इस प्रकार शान्त रहूँ मानो कोई बात हुई ही न हो। जब मैं ऐसी स्थिति को पहुँच जाऊँगा तभी समझो कि मैंने तितिक्षा सीखी। इसके पहिले नहीं। (आये हुए दुःखों का सहन करना; उन्हें रोकने या दूर करने का विचार भी न करना; तज्जन्य शोक या अनुताप मन में उत्पन्न भी न होने देना, बस इसी का नाम है 'तितिक्षा'।) मानो दुःख

आया तो आने दिया, उसे रोकने की चेष्टा न की, और फलतः यदि कोई जबरदस्त आपत्ति आही पड़ी तो यदि हममें 'तितिक्षा' हो तो हमें यह शोक नहीं करना चाहिए कि उस आते हुए दुःख को रोकने की हमने चेष्टा क्यों न की।

जब मनुष्य का मन ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है तो समझ लो कि उसे 'तितिक्षा' सिद्ध हो गई। भारतवर्ष के लोग इस 'तितिक्षा' को प्राप्त करने के लिए बड़े असाधारण काम करते हैं। वे भयानक धूप और ठंड बिना किसी क्लेश के सह जाते हैं, वे बर्फ गिरने की भी परवाह नहीं करते। उन्हें तो यह विचार भी नहीं आता कि उनका शरीर है भी; शरीर, शरीर के ही भरोसे छोड़ दिया जाता है, मानो वह इनकी कोई वस्तु ही न हो।

इसके बाद आती है 'उपरति'। भोग्य विषयों का चिन्तन न करना—इसीका नाम 'उपरति' है। हमने क्या देखा या क्या सुना; हम देखनेवाले हैं या सुननेवाले; कौनसी वस्तु हमने खाई, खा रहे है अथवा खाएंगे; हम कहाँ रहें इत्यादि इत्यादि विषयों के चिन्तन में ही हमारा बहुत सा समय खर्च हो जाता है। जो कुछ हम देखते सुनते रहते हैं उसीके सोचने में तथा तद्विषयक बातें करने में ही हमारे समय का अधिकांश व्यतीत हो जाता है। अगर तुम 'वेदान्ती' बनना चाहते हो तो तुम्हें यह आदत छोड़ देनी चाहिए।

चौथा आवश्यक गुण है 'श्रद्धा'। 'श्रद्धा' मनुष्य का धर्म के प्रति और परमेश्वर के प्रति अमर्याद विश्वास है। जब तक मनुष्य

में ऐसा विश्वास उत्पन्न नहीं होता तब तक वह 'ज्ञानी' होने की आकांक्षा नहीं कर सकता। एक बड़े सत्पुरुष का कथन है कि दो करोड़ मनुष्यों में भी एक ऐसा मनुष्य इस दुनिया में नहीं है जो परमेश्वर में विश्वास करे। मैंने पूछा, "यह कैसे?" तो वह बोले, "मान लो इस कमरे में चोर घुस आया और उसे पता लग गया कि दूसरे कमरे में सोने की डली रखी है। फिर दोनों कमरों को अलग करने वाला परदा भी बहुत कमज़ोर है तो उस चोर के मन की हालत क्या होगी?" मैंने जवाब दिया, "उसे नींद न आएगी। उसका मन सोना पाने की तरकीब में ही लगा रहेगा, उसे और कुछ भी न सूझेगा।" यह सुनकर साधु जी बोले, "तो फिर तुम बताओ कि क्या यह सम्भव है कि मनुष्य परमेश्वर में विश्वास करे परन्तु उसे पाने के लिए पागल न हो? अगर मनुष्य सचमुच यह विश्वास करे कि असीम और अमर्याद आनंद की खान यहाँ है और वह उस खान तक पहुँच भी सकता है तो क्या वहाँ पहुँचने के लिए वह पागल न हो जायेगा?" (ईश्वर में अटूट विश्वास और साथ ही उसके पाने की उत्सुकता का ही नाम 'श्रद्धा' है।)

इसके बाद आता है 'समाधान' अर्थात् परमेश्वर में अपने चित्त को निरन्तर स्थापित करने का अभ्यास। एक दिन में ही कोई बात बनकर नहीं आजाती। धर्म ऐसी वस्तु नहीं है कि गोली जैसी निगल ली जाय। इसके लिए लगातार और कड़े अभ्यास की आवश्यकता है। धीरे धीरे और लगातार अभ्यास से मन काबू में लाया जा सकता है।

छठवीं बात है 'मुमुक्षुत्व' अर्थात् मुक्त होने की उत्कट अभिलाषा। तुम लोगों में से जिन्होंने 'आरनॉल्ड' की 'Light of Asia' नामक पुस्तक पढ़ी होगी उन्हें याद होगा कि भगवान् बुद्ध ने अपना पहला तत्त्व क्या सिखलाया है। उनके कहने का तात्पर्य है:—

"अपने दुःखों के तुम स्वयं ही पैदा करनेवाले हो—तुम्हें कोई बाध्य नहीं करता है। ऐसा भी तुमसे कोई नहीं कहता कि तुम जीवित रहो अथवा न रहो। तुम क्यों अपने आप ही दुःख के चक्र में पड़कर अनेक प्रकार के कष्टों का अनुभव करते हो? इसमें तो तुम्हें केवल अश्रु तथा शून्यता ही प्राप्त होगी।"

हम पर जो दुःख आते है वे हमारे ही पसंद किये होते हैं। यह हमारा स्वभाव ही है। साठ साल तक जेल में रहने के बाद जब एक चीनी, नये बादशाह के राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में जेल से छोड़ दिया गया तो वह चिल्ला उठा था, "अब मैं कहाँ जाऊँ? मैं तो कहीं नहीं जा सकता। मुझे तो उसी भयानक अंधेरी कोठरी में चूहे और चुहियों के पास जाने दो। मैं यह उजेला नहीं सह सकता।" इसलिए उसने प्रार्थना की, "या तो मुझे मरवा दिया जाये या फिरसे जेल में ही भिजवा दिया जाये।" उसकी प्रार्थना के अनुसार वह फिर बंद कर दिया गया। सब मनुष्यों की हालत ठीक ऐसी ही है। चाहे कोई भी दुःख हो उसे पकड़ने के लिए हम जी तोड़कर दौड़ लगाते हैं और उससे छुटकारा पाने के लिए बिलकुल रजामंद नहीं हैं। सुखों के पीछे हम प्रतिदिन दौड़ते जाते हैं और यही

देखते हैं कि वे मिलने के पहले ही गायब हो जाते हैं। पानी की तरह हमारी अंगुलियों में से सुख बह जाता है, परन्तु फिर भी पागलों की भाँति हम उसके पीछे दौड़ते ही जाते हैं। अन्धे बनकर हम उसका पीछा किये ही जाते हैं।

भारतवर्ष में तेल के कोल्हू में बैल जोते जाते हैं। तेल निकालने के लिए बैल गोल ही गोल घुमाया जाता है। बैल के गले पर 'जुआ' होता है। जुएँ का एक सिरा आगे बढ़ा होता है। उसके एक छोर पर घास बाँध दी जाती है। फिर बैल की आँख इस तरह बाँध देते हैं कि वह सिर्फ़ सामने ही देख सके। बैल अपनी गर्दन बढ़ाता है और घास खाने की कोशिश करता है। ऐसा करने से लकड़ी आगे धक्का खाती है। बैल दूसरी बार, तीसरी बार फिर कोशिश करता है और इसी तरह कोशिश करता जाता है, परन्तु वह घास उसके मुँह में कभी नहीं आपाती और वह गोल गोल चक्कर लगाये ही जाता है। इधर कोल्हू में तेल पिरता जाता है। हमारी आदत भी ठीक ऐसी ही है। हम भी रुपया-पैसा, जोरू-बच्चे और अपनी आदतों के दास हैं। मृगजल की नाईं उस घास को पाने के लिए हजारों जन्म तक हम चक्कर लगाये जाते हैं, लेकिन जो हम पाना चाहते हैं वह हमें नहीं मिलता। प्रेम एक ऐसा ही बड़ा धोखा है। हम लोगों का प्यार करते हैं और चाहते हैं कि लोग हमारा प्यार करें। हम समझते हैं कि हम सुखी होनेवाले हैं और हम पर दुःख कभी न आयेगा, लेकिन जितना ही हम सुख की ओर जाते हैं

उतना ही अधिक वह हमसे दूर भागता जाता है। इसी तरह दुनिया चल रही है और इसी तरह समाज। हम अन्धे गुलाम जैसे उसके लिए भुगतते हैं और यह भी नहीं समझते कि हम भुगत रहे हैं। तुम ज़रा अपनी ही जिन्दगी की ओर देखो, तुम्हें मालूम होगा कि कितना थोड़ा सुख इस जिन्दगी में है और मृगजल के पीछे दौड़ने के सदृश इन भोगों का पीछा करते हुए कितना थोड़ा सुख तुम्हारे हाथ आया है।

क्या तुम्हें 'सोलन' और 'क्रीसस' की कहानी याद है? बादशाह ने उस बड़े साधु से कहा, "सोलन, देखो इस एशिया माइनर जैसी सुखभरी और कोई दूसरी जगह नहीं है।" साधु ने पूछा, "सब से सुखी मनुष्य कौन है? मैंने तो ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं देखा जो बिलकुल सुखी हो।" क्रीसस ने कहा, "वह सब से सुखी मनुष्य मैं ही हूँ।" इस पर उस साधु ने कहा, "ज़रा जल्दी न करो, अपनी जिन्दगी खत्म होते तक ठहरो।" और ऐसा कहकर वह चला गया। कुछ दिनों बाद परशियानिवासियों ने उस राजा को जीत लिया और उसे जिन्दा जला देने का हुक्म दे दिया गया। जब क्रीसस ने चिता रची हुई देखी तो वह 'सोलन, सोलन' कहकर चिल्ला उठा। परशिया के बादशाह ने जब उससे पूछा कि वह किसको पुकारता है तो क्रीसस ने अपनी सारी कहानी कह सुनाई। वह बात बादशाह के दिल में चुभ गई और उसने क्रीसस को मरने से बचा लिया।

हममें से हर एक की जिन्दगी की यही कहानी है। हमारे

स्वभाव का हम पर ऐसा भीषण प्रभाव होता है कि बार बार ठुकराये जाने पर भी उन्माद से बेहोश हो हम उसका पीछा किये ही जाते है। हम निराशा में भी आस लगाये बैठे रहते हैं। यह आशा–यह मृगजल हमको पागल बनाये हुये है। सुख पाने की आशा हममें सदा बनी ही रहती है।

किसी काल में भारतवर्ष में एक बड़ा सम्राट राज्य करता था। किसीने उससे एक बार चार प्रश्न पूछे। पहला प्रश्न यह था कि दुनिया में सबसे आश्चर्य की बात कौनसी है। उत्तर मिला 'आशा'। यह आशा ही दुनिया मे सबसे आश्चर्य की चीज़ है। लोग अपने चारों ओर दिन रात मनुष्यों को मरते देखते हैं, परन्तु फिर भी समझते है कि वे खुद न मरेंगे। हमको यह कभी ख्याल भी नहीं होता कि हम भी मरनेवाले हैं या हमको भी दुःख उठाना पड़ेगा। हरएक व्यक्ति यही सोचता है कि उसे तो यश ही मिल जायेगा, पर यह तो असम्भव की आस लगाये रहना है। चाहे जितनी ही आपत्तियाँ क्यों न हों पर फिर भी यश मिल ही जायेगा, और तो क्या, गणित के सिद्धान्त के समान अपयश स्पष्ट प्रतीत होते हुए भी हम आशा किये ही जाते हैं। सचमुच सुखी कभी कोई नहीं हुआ। अगर मनुष्य श्रीमान है और खाने पीने को खूब है तो उसकी पाचन शक्ति ही बिगड़ी रहेगी और वह कुछ न खा सकेगा। और अगर मनुष्य की पाचन शक्ति अच्छी है और उसे वृकोदर की सी भूक लगती है तो उसे खाने ही को न मिलेगा। फिर अगर मनुष्य श्रीमान है तो उसे बाल-

बच्चे ही न होंगे। और अगर वह भूखों मर रहा होगा तो लड़के-लड़कियों की फौज पैदा हो जायेगी और उसे यह भी न सूझेगा कि वह क्या करे। ऐसा क्यों है? बस इसलिए कि सुख और दुःख रुपये की सीधी और उलटी बाजू की तरह है। जिसे सुख चाहिए उसे दुःख भी लेना होगा। हम लोग मूर्खता के इसी विचार में फँसे रहते हैं कि हमें कोरा सुख ही मिल जायेगा। यह बात हम में ऐसी ठस गई है कि इन्द्रियों पर हम अधिकार ही नहीं जमा सकते।

एक बार जब मै बोस्टन में था तो एक दिन एक नौ-जवान मेरे पास आया और मेरे हाथ पर उसने एक कागज का टुकड़ा रख दिया। इस टुकड़े पर हस्तलिखित किसी व्यक्ति का नाम और पता था और आगे यह इबारत थी, 'दुनिया की सारी दौलत और सारा सुख तुम्हें मिल सकता है, पर सिर्फ उसे पाने की तरकीब तुम्हें मालूम होनी चाहिए। अगर तुम मेरे पास आओ तो मै तुम्हें वह तरकीब सिखला दूँगा। फीस सिर्फ ५ डालर्स।' यह चिट्ठी देकर उसने मुझसे पूछा कि कहो तुम्हें क्या चाहिए। मैंने जवाब दिया, "तुम्हारे पास स्वयं तो इसे छपा लेने के लिए भी पैसा नहीं है। कमसे कम इसे छपवाने-भर का खर्च तो तुम पहले अपने आप पैदा कर लो। तुमने तो यह हाथ से लिखा है!"

मैंने उससे क्या कहा यह वह न समझ सका। वह इसी ख्याल में मशगूल था कि बिना कोई तकलीफ उठाये ही उसे तमाम सुख और पैसा मिल जायेगा। मनुष्य इस दुनिया में दो प्रकार की

ग़लतियाँ करता है। पहली है चरम आशावादी वृत्ति–जिस वृत्ति में हरएक वस्तु हमें सुन्दर, हरीभरी और अच्छी प्रतीत होती है। और दूसरी है निराशावादी वृत्ति अर्थात् जिस समय ऐसा प्रतीत होता है कि सारी बातें हमारे मन के प्रतिकूल ही हुआ करती हैं। अधिकांश लोग ऐसे हैं जिनके मस्तिष्क की वाढ़ अधूरी ही रह गई है। दस लाख में एक आध ही ऐसा कोई निकलता है जिसकी बुद्धि का अच्छा विकास हुआ हो। बाकी के लोग या तो अधपगले होते हैं या उनका सिर ही घूमा हुआ होता है।

✓कोई आश्चर्य नहीं कि हम या तुम एक न एक ग़लती कर बैठते है। जब हम नौजवान और शक्तिमान होते है तो हमें ऐसा मालूम होता है कि दुनिया की सारी भोग की चीज़ें हम ही पानेवाले हैं और वह हमारे लिए ही पैदा की गई हैं। इसके विरुद्ध जब लोग हमें गेंद की तरह ठोकरों से उड़ाते है और हम बूढ़े हो जाते है तो हम खांसते खांसते एक कोने में जा बैठते हैं और फिर दूसरों के उत्साह पर भी ठंडा पानी फेरने लगते हैं। बहुत थोड़े मनुष्यों को इस बात का ज्ञान है कि दुःख के साथ सुख और सुख के साथ दुःख लगा हुआ है; और सुख भी उतना ही घृणाजनक है जितना कि दुःख, क्योंकि सुख और दुःख दोनों जोड़ुआ भाई हैं। जिस तरह दुःख के पीछे दौड़ना हमारे मनुष्यत्व की विडम्बना है उसी तरह सुख के पीछे दौड़ना भी। जिसकी बुद्धि समतौल है उसे दोनों का ही तिरस्कार करना चाहिए। नियति के हाथ का

खिलौना न बनने की कोशिश हम क्यों न करें? अभी हम पर मार पड़ रही है और जब हम रोने लगते हैं तो नियति हमारे हाथ पर रुपया रख देती है। फिर मार बरसती है और हम फिर रोने लगते हैं। अब की बार नियति रोटी का टुकड़ा दे देती है और हम फिर हँसने लगते हैं।

ज्ञानी पुरुष चाहता है स्वाधीनता। वह जानता है कि विषय निःसार है और सुख-दुःख का कोई अन्त नहीं है। दुनिया के कितने धनवान नया सुख ढूँढ़ने में लगे हुए हैं। लेकिन जो सुख उन्हें मिलता है वह पुराना ही होता है। कभी कोई नया सुख हाथ नहीं लगता। क्या तुम नहीं देखते हो कि इन्द्रियों को कुछ क्षण तक उद्दीप्त करने के लिए प्रतिदिन किस तरह मूर्खता के नये नये आविष्कार किये जा रहे हैं? फिर होती है 'प्रतिक्रिया'। बहुजन समाज भेड़ों के झुण्ड के समान है। अगर एक भेड़ गड्ढे में गिरती है तो दूसरी भेड़ें भी गिरकर अपनी गर्दन तोड़ लेती हैं। इसी तरह समाज का मुखिया जब कोई बात कर बैठता है तो दूसरे लोग भी उसका अनुकरण करने लगते है और यह नहीं सोचते कि वे क्या कर रहे है। जब मनुष्य को ये संसारी बातें निःसार प्रतीत होती है तब वह सोचता है कि वह इस प्रकार का खिलौना न बने अथवा कहिए नियति उसे इस तरह न बहकावे। यह गुलामी है। कोई अगर दो चार मीठी बातें सुनावे तो मनुष्य मुसकराने लगता है। और जब कोई कड़ी बात सुना देता है तो आँसू निकल आते हैं। एक रोटी के

टुकड़े, एक सांस भर हवा, कपड़ेलत्ते, देशाभिमान, अपने देश, अपने नाम अथवा अपनी कीर्ति का मनुष्य दास है। इस तरह वह गुलामी में फँसा है और उसमें वास करनेवाला सच्चा 'मनुष्यत्व' इन सब बन्धनों के कारण उसके अन्दर गड़ा हुआ पड़ा है। जिसे तुम मनुष्य कहते हो वह गुलाम है। जब मनुष्य को अपनी इस सारी गुलामी का अनुभव होता है तब उसके मन में स्वतंत्र होने की इच्छा उत्पन्न होती है—अदम्य इच्छा उत्पन्न होती है। अगर किसी मनुष्य के सिर पर दहकता हुआ अंगार रख दिया जाये तो वह मनुष्य उसे दूर फेंकने के लिए कैसा छटपटायेगा। ठीक इसी तरह वह मनुष्य, जो यह समझ चुका है कि वह प्रकृति का गुलाम है, स्वतंत्रता पाने के लिए छटपटाता है।

'मुमुक्षुत्व' अर्थात् स्वतंत्रता पाने की इच्छा क्या है यह हमने देख लिया। अब आता है दूसरा विषय। वह भी बहुत कठिन है। सत्य क्या है अथवा मिथ्या क्या है, क्या चिरन्तन है और क्या नश्वर, आदि आदि भेद जानना अर्थात् 'नित्यानित्यविवेक' यह है दूसरा विषय। परमेश्वर ही सिर्फ शाश्वत है और दुनिया की प्रत्येक वस्तु नश्वर। देवदूत, मनुष्य, पशु, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारे सभी नष्ट होनेवाले हैं, सभी का विनाश अवश्यम्भावी है। प्रत्येक वस्तु का निरन्तर स्थित्यन्तर होता रहता है। आज जहाँ पर्वत है वहाँ कल समुद्र था, और फिर कल समुद्र दिखलाई देगा। प्रत्येक वस्तु अस्थिर है; यह सारा विश्व ही परिवर्तनशील पिण्ड है। बस

वही एक है जो कभी नहीं बदलता, वह है ईश्वर, और हम उसके जितने ही अधिक नजदीक जाएंगे उतना ही कम हममें परिवर्तन या विकार होगा। प्रकृति का हम पर उतना ही कम अधिकार चलेगा और जब हम उस परमेश्वर तक पहुँच जाएंगे, उसके सामने जाकर खड़े होंगे तो हम प्रकृति को जीत लेंगे। प्रकृति का यह दृश्य-जात हमारे अधीन हो जायेगा और हम पर उसका कोई असर न पड़ सकेगा।

अगर ऊपर बतलाई हुई साधना हमने सचमुच की है तो वास्तव में इस दुनिया में हमें और किसी बात की आवश्यकता न रहेगी। सम्पूर्ण ज्ञान हम में ही निहित है। आत्मा स्वभावतः ही पूर्ण है, लेकिन यह पूर्णत्व माया से ढका हुआ है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप पर प्रकृति के आवरण पर आवरण चढ़े हुए हैं। हमें क्या करना चाहिए? वास्तव में हम अपनी आत्मा की बिलकुल उन्नति नहीं करते। जो पूर्ण है उसका विकास कौन कर सकता है। हम सिर्फ परदा दूर हटा देते हैं और आत्मा अपने नित्यशुद्ध, नित्यमुक्त रूप में प्रकट हो जाती है।

अब प्रश्न यह आता है कि इस तरह की साधना की क्योंकर आवश्यकता है? इसका कारण यह है कि धर्मसाधन न तो आँख से होता है और न कान अथवा मस्तिष्क से ही। कोई भी धर्म-ग्रंथ हमें धार्मिक नहीं बना सकता। चाहे हम दुनिया के सारे धर्म-ग्रंथ पढ़ डालें, परन्तु फिर भी ईश्वर या धर्म का हमें तनिक भी ज्ञान न

होगा। हम सारी उम्र वे बातें करते रहें और फिर भी कोई उन्नति न होगी। दुनिया में पैदा हुए विद्वानों में से चाहे हम सबसे होशियार हों फिर भी हम ईश्वर तक न पहुँच सकें। इसके विरुद्ध उच्चतम बौद्धिक शिक्षा पाकर बहुत होशियार बने हुए पुरुषों में अत्यन्त अधार्मिक पुरुष निर्माण होते हुए भी क्या तुमने नहीं देखे है? तुम पाश्चात्यों की संस्कृति का एक बड़ा दोष यह है कि बुद्धि पर संस्कार करते समय हृदय के संस्कार की ओर तुम ध्यान नहीं देते। इसका फल यह होता है कि मनुष्य दस गुना अधिक स्वार्थी बन जाता है। यही तुम्हारे नाश का कारण होगा। अगर हृदय और बुद्धि में विरोध उत्पन्न हो तो तुम हृदय का अनुसरण करो, क्योंकि बुद्धि सिर्फ एक तर्क के क्षेत्र में ही काम कर सकती है, वह उसके परे जा ही नहीं सकती; लेकिन वह सिर्फ़ हृदय ही है जो हमें उच्चतम भूमिका पर आरूढ़ करता है।

वहाँ तक बुद्धि कभी नहीं पहुँच सकती। हृदय बुद्धि का अतिक्रमण कर जिसे हम 'अन्तःस्फूर्ति'(Inspiration) कहते हैं उसे पा लेता है। बुद्धि कभी उत्स्फूर्त नहीं हो सकती। वह हृदय ही ज्ञान का आलोक पाने पर स्फूर्तियुक्त बन जाता है। बुद्धिप्रधान किन्तु हृदयशून्य मनुष्य कभी स्फूर्तिमान पुरुष नहीं बन सकता। प्रेममय पुरुष की समस्त क्रियाएँ उसके हृदय से ही अनुप्राणित होती हैं। एक ऐसा उच्चतर साधन जिसे कि बुद्धि कभी नहीं दे सकती, अगर किसीने पाया है तो हृदय ने; और वह साधन है स्फूर्ति। जिस तरह बुद्धि ज्ञान का साधन

है उसी तरह हृदय है 'स्फूर्ति' का। ज्ञान की निम्नावस्था में हृदय इतना शक्तिशाली नहीं होता जितनी कि बुद्धि। एक अपढ़ मनुष्य को कोई ज्ञान नहीं होता, पर वह थोड़ा बहुत भावनाप्रधान होता है। अब उसकी तुलना एक प्राध्यापक से करो। ओह! उस प्राध्यापक में कितनी अद्भुत शक्ति होती है। लेकिन प्राध्यापक अपनी बुद्धि से मर्यादित है। वह एक साथ ही बुद्धिमान और शैतान हो सकता है। लेकिन जिस मनुष्य का अन्तःकरण है वह शैतान कभी नहीं हो सकता। जो मनुष्य भावनायुक्त है वह आज तक कभी शैतान नहीं बना। अगर योग्य संस्कार किया जाय तो हृदय में परिवर्तन हो सकता है और वह बुद्धि का भी अतिक्रमण कर स्फूर्तिमय बन जाता है। अन्त मे मनुष्य को बुद्धि के परे जाना ही पड़ेगा। मनुष्य की प्रज्ञा, उसकी ज्ञान-शक्ति, उसका विवेक, उसकी बुद्धि, उसका हृदय, उसका सर्वस्व इस संसाररूपी क्षीरसागर के मंथन में लगे हुए है। दीर्घकाल तक मथने के बाद उसमें से मक्खन निकलता है। यह 'मक्खन' है भगवान्। सहृदय विभूतियाँ 'मक्खन' पा लेती हैं, पर कोरे बुद्धिमानों के लिए सिर्फ 'छाछ' बच जाती है।

हृदय की शुद्धता के लिए, उस प्रेम के लिए, हृदय की उस अपार सहानुभूति के लिए ये सब पूर्व तैयारियाँ हैं। ईश्वर पाने के लिए विद्वान या पढ़ा लिखा होने की बिलकुल आवश्यकता नहीं। एक बार एक साधु ने मुझसे कहा था, "अगर तुम किसी का प्राण लेना चाहो तो तुम्हें ढाल तलवार से सुसज्जित होना चाहिए। लेकिन अगर तुम्हें

आत्महत्या करनी है तो सिर्फ़ सुई ही काफ़ी होगी। इसी तरह अगर दूसरों को सिखलाना हो तो बहुत सी विद्वत्ता और बुद्धि की आवश्यकता होगी, लेकिन आत्मानुभूति के लिए यह आवश्यक नहीं है।" क्या तुम शुद्ध हो? अगर तुम शुद्ध होगे तो परमेश्वर को पाओगे। "जिनका हृदय शुद्ध है वे धन्य हैं, क्योंकि उन्हें परमात्मा की प्राप्ति अवश्य ही होगी", लेकिन अगर तुम शुद्ध नहीं हो तो फिर चाहे दुनिया का सारा विज्ञान तुम्हें अवगत हो, परन्तु फिर भी उसका कुछ उपयोग न होगा। जो किताबें तुम पढ़ते हो उसमें चाहे खुद को तुम गाड़ डालो, परन्तु फिर भी कुछ फ़ायदा न निकलेगा। वह हृदय ही है जो अन्तिम ध्येय तक पहुँच सकता है। इसलिए हृदय की ही उपासना करो। बुद्धि द्वारा अगम्य विषय शुद्ध हृदय ही देख सकता है, वह स्फूर्तिमय हो जाता है। हृदय वे बातें जान लेता है जिसे तर्क कभी नहीं जान सकता। और अगर शुद्ध हृदय और बुद्धि में झगड़ा पड़े तो तुम अपने शुद्ध हृदय ही की सुनो, भले ही तुम्हें हृदय का कथन तर्कविरुद्ध मालूम हो। जब हृदय परोपकार करने की इच्छा करे तो बुद्धि तुम्हें बतला सकती है कि ऐसा करना अविचार है, लेकिन तुम हृदय की सुनो और तुम देखोगे कि बुद्धि की सुनकर तुम जितनी ग़लतियाँ करते हो उससे कम ग़लतियाँ करोगे। शुद्ध हृदय ही सत्य के प्रतिबिम्ब के लिए सर्वोत्तम दर्पण है, इसलिए यह सारी साधना हृदय के शुद्धीकरण के लिए ही है और ज्योंही वह शुद्ध हो जाता है त्योंही सम्पूर्ण सत्य उसी क्षण उस पर प्रतिबिम्बित हो

जाता है। अगर तुम्हारा हृदय काफी शुद्ध होगा तो दुनिया के सारे सत्य उसमें आविर्भूत हो जायँगे।

जिन मनुष्यों ने दुर्बीन, सूक्ष्मवस्तुदर्शक यंत्र या प्रयोगशाला तक कभी न देखी थी उन लोगों ने कई युगों के पूर्व सूक्ष्म भूतों, मनुष्य की सूक्ष्म ग्राहकशक्तियों और परमाणु विषयक महान सत्यों का आविष्कार किया था। यह कैसे हुआ था? वे ये बातें किस तरह जान सके थे? यह ज्ञान उन्हें हृदय के बल पर ही हुआ था। उन्होंने अपने हृदय को शुद्ध बनाया था। अगर हम चाहें तो आज भी वही कर सकते हैं। वास्तव में हृदय की शुचिता पर अधिष्ठित संस्कृति ही इस दुनिया के दुःखों को कम करेगी, न कि बुद्धि पर अधिष्ठित संस्कृति।

बुद्धि सुसंस्कृत की गई। फलतः मनुष्य ने सैकड़ों विद्याओं का आविष्कार किया और उसका परिणाम यह हुआ कि कुछ थोड़े मनुष्यों ने बहुत से मनुष्यों को अपना गुलाम बना डाला। बस यही हमारा लाभ हुआ है। अनैसर्गिक आवश्यकताएँ उत्पन्न की गईं। प्रत्येक गरीब मनुष्य, चाहे फिर उसके पास पैसा हो या न हो, इन आवश्यकताओं को तृप्त करना चाहता है और जब उन्हें वह तृप्त नहीं कर पाता है तो छटपटाता है और छटपट करते करते ही मर जाता है। यही है अन्तिम गति। दुःख दूर करने का प्रश्न बुद्धि से नहीं छुड़ाया जा सकता, वह हृदय ही से छुटेगा। अगर यह प्रचण्ड यत्न मनुष्यों को अधिक शुद्ध, सभ्य तथा सहनशील बनाने की ओर

लगाया जाता तो यह दुनिया आज हज़ार गुनी अधिक सुखी हो जाती। इसलिए सर्वदा हृदय अधिकाधिक पवित्र करो, क्योंकि भगवान् कार्य करते हैं हृदय द्वारा और तुम अपनी बुद्धि द्वारा।

पुराने अहदनामा (Old Testament) में मोज़ेस को जो कहा गया था कि "तुम अपने जूते उतार दो, क्योंकि तुम जहाँ खड़े हो वह पवित्र भूमि है" तुम्हें याद होगा। धर्म का अभ्यास करते समय हमें यह आदरयुक्त भावना रखकर उसकी ओर बढ़ना चाहिए। जो कोई शुद्धान्तःकरण तथा आदरयुक्त भावना से आएगा उसका हृदय खुल जायगा; कपाट खोल दिए जायँगे और उसे सत्य का दर्शन होगा।

अगर तुम बुद्धि को साथ लेकर आओगे तो बुद्धि की कुछ कुलाँटे खाने को तुम्हें मिल जायँगी, कुछ तार्किक सिद्धान्तों की तुम्हें प्राप्ति होगी, लेकिन सत्यदर्शन न होगा। सत्य का स्वरूप ऐसा है कि जो कोई उसे देखेगा उसे एकदम पूरा विश्वास हो जायगा। सूर्य का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए मशाल की ज़रूरत नहीं होती। वह स्वयं ही प्रकाशमान है। अगर सत्य को भी सबूत की आवश्यकता हो तो उस सबूत को फिर कौन साबित करेगा? इसलिए धर्म की ओर हमें प्रेम तथा आदरयुक्त भावना से झुकना चाहिए। फिर हमारा हृदय जाग्रत हो उठेगा और कहेगा, 'यह सत्य है, वह सत्य नहीं है'।

धर्म का क्षेत्र हमारी इन्द्रियों के अतीत है, हमारे द्वैतात्मक बोध के भी परे है। परमेश्वर इन्द्रियों द्वारा कभी ग्रहण नहीं किया जा सकता। अभी तक किसीने परमेश्वर को इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना और द्वैतबोध रहते हुए न कोई उसे जान ही सकेगा। द्वैतबोध रहते हुए किसी को भी परमेश्वर प्रतीत न होगा। परमेश्वर कहाँ है! धर्म का क्षेत्र कहाँ है? वह इन्द्रियों से परे, द्वैतबोध के भी अतीत है। विषय-विषयी भाव इन्द्रियों का बाह्य वस्तुओं से संयोग होने से तथा इस प्रकार का स्थूल संयोग न होने से भी अन्तःकरण में उत्पन्न होता है। बाह्य वस्तुसापेक्ष विषय-विषयी भाव की विभिन्न वृत्तियों के सदृश, तन्निरपेक्ष द्वैतबोध भी विषय-विषयी भाव की एक वृत्ति है जिसमें हम व्यवहार करते हैं। हमें इस द्वैतबोध तथा इन इन्द्रियों के परे जाना होगा; हमें अपनी अन्तस्थ आत्मा के अधिकाधिक निकट जाना पड़ेगा और जितना ही हम आगे बढ़ेंगे उतना ही हम परमेश्वर के अधिकाधिक समीप पहुँचेंगे। परमेश्वर के अस्तित्व का क्या प्रमाण है? साक्षात्कार अर्थात् प्रत्यक्ष करना। इस दीवार का सबूत यह है कि मैं इसे देखता हूँ। आज से पहले हज़ारों ने परमेश्वर को इस तरह देखा है और आगे भी जो चाहेंगे उसे देख सकेंगे। लेकिन यह प्रत्यक्षानुभूति इन्द्रियों द्वारा होने वाले अनुभव के सदृश बिलकुल नहीं है। वह इन्द्रियातीत है, वह द्वैतबोधातीत है। यह सब साधना हमें इन्द्रियों के परे जाने के लिए आवश्यक है। अनेक प्रकार के कृत कर्मों तथा बंधनों से हम अधोगामी हो रहे हैं। इन साधनाओं से हम शुद्ध और सत्यनिष्ठ बनेंगे। बंधन स्वयं ही टूट जायँगे और हम इस

इन्द्रियगम्य जगत् से, जहाँ कि हम फँसे पड़े हैं, ऊँचे उठ जायँगे और फिर हम वह देखेंगे, वह सुनेंगे, उसका अनुभव करेंगे जिसे कि मनुष्य ने तीनों अवस्थाओं में (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में) न कभी देखा है, न सुना है और न कभी अनुभव किया है। फिर हम मानों कोई नई ही भाषा बोलेंगे और दुनिया हमें नहीं समझ सकेगी, क्योंकि इन्द्रिय ज्ञान के सिवाय उसे और दूसरा ज्ञान नहीं है। सच्चा धर्म पूर्ण रूप से द्वैतातीत है। विश्व में रहनेवाले प्रत्येक जीव में इन्द्रियातीत होने की शक्ति सुप्त भाव में रहती है। छोटे से छोटा कीड़ा भी एक दिन इन्द्रियातीत हो जायगा और परमेश्वर तक पहुँच जायगा। कोई भी अपयशी न होगा। इस विश्व में अपयश कोई वस्तु है ही नहीं। सौ बार मनुष्य अपना पतन कर लेगा, हज़ार बार वह फिसल जायगा लेकिन अन्त में उसे ज्ञान होगा कि वह ईश्वर है। हम जानते हैं कि उन्नति कभी सरल रेखा में नहीं होती। प्रत्येक जीव की गति वर्तुलाकार है और उसे अपना गोल पूरा ही करना होगा। कोई भी जीव इतने नीचे कभी जा ही नहीं सकता कि फिर उसका उत्थान न हो। हर एक जीव को ऊँचा चढ़ना ही होगा। ऐसा कोई भी नहीं है जिसकी सुगति न हो सके। हम सब एक ही मध्यबिंदु से जो कि परमेश्वर है, प्रकट हुए हैं। ऊँचे से ऊँचा, नीच से नीच जीव जिसे ईश्वर ने उत्पन्न किया है अन्त में उस पिता के पास लौट ही आएगा। जिससे प्रत्येक व्यक्ति सृष्ट है, जो सब का अधिष्ठान है और जिसमें सब विलीन होंगे, वही ईश्वर है।

---

२. धर्मजीवन की साधनाएँ

(लॉस एन्जल्स, कॅलिफोर्निया, में दिया हुआ भाषण)

आज इस प्रातःकाल के समय मे मैं प्राणायाम तथा अन्यान्य योगसाधनाओं के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रकट करूँगा। हमने अभी-तक सिर्फ़ तात्त्विक चर्चा ही की है। अब हम यह देखेंगे कि इन सब तत्त्वों को हम प्रत्यक्ष आचरण में किस प्रकार ला सकते हैं। भारतवर्ष में इस विषय पर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं। जिस तरह तुम लोग अनेक बातों में व्यवहारकुशल हो उसी तरह हम भारत-वासी इस विषय में हैं। तुम लोगों में से पाँच मनुष्य इकट्ठे हो जाते हैं और उनका विचार हो जाता है कि वे एक 'जॉइन्ट स्टॉक' कम्पनी खोलें। पाँच घंटे बाद कम्पनी खुल भी जाती है। भारतवर्ष में लोगों से पचास साल में भी ऐसी कम्पनी न खुल सकी। भारतवासी इन बातों में व्यवहारकुशल हैं ही नहीं। लेकिन अगर कोई नया दर्शन प्रवर्तित करे तो तुम निश्चय समझ लो कि वह चाहे जितना ही विलक्षण क्यों न हो उसके अनुयायी निकल ही पड़ेंगे। उदाहरणार्थ मान लो अगर किसी ने कहा कि बारह साल दिन रात एक पैर पर खड़े रहने से मुक्ति मिल जायगी, तो एक पैर पर खड़े रहने को सैकड़ों आदमी मिल जायँगे। वे सारी तकलीफ़ चुपचाप सह लेंगे। वहाँ ऐसे मनुष्य भी हैं जो कि पुण्य प्राप्त करने के

लिए लगातार सालों हाथ उठाये ही रह जायँगे। मैंने स्वयं ऐसे सैकड़ों व्यक्ति देखे हैं और यह ध्यान रहे कि इनमें से सभी मूर्ख होते हैं ऐसा नहीं। उनकी गम्भीर तथा विशाल बुद्धि देखकर तुम चकरा जाओगे। अब तुम्हारी समझ में आजायगा कि व्यवहारकुशलता शब्द भी सापेक्ष है।

दूसरों की योग्यता ठहराते समय हम सदा यही गलती कर बैठते हैं। हम समझ बैठे हैं कि हमारी छोटी बुद्धि जितना समझ सकती है उतना ही यह विश्व है। मेरी नीति की कल्पनाएँ, मेरी कर्तव्यविषयक भावना या मेरी उपयोगिता की कल्पना ये ही केवल ऐसी वस्तुएँ हैं जो लोगों के पाने योग्य हैं। एक दिन यूरोप में भ्रमण करते समय मैंने देखा, मार्सेल्स में जिसको मैं पार कर रहा था, सांडों की लड़ाई हो रही थी। लड़ाई का हाल सुनकर जहाज़ में बैठे हुए सब अंग्रेज जोश से पागल हो गये थे; कह रहे थे, "यह तो बिलकुल बेरहमी है", और बड़े दोष बतलाकर बुरी भाषा उपयोग में ला रहे थे। जब मैं इंग्लैंड गया तो वहाँ मैंने दंगल में भाग लेने वाले एक दल के विषय में सुना। ये लोग पेरिस गये थे और फ्रांसीसियों ने ठोकरें मारकर इन्हें निकाल दिया था, क्योंकि वे दंगल खेलना (Prize Fighting) बेरहमी समझते हैं। जब इस तरह की बातें मैं अनेक देशों में सुनता हूँ तो ईसा के अप्रतिम शब्दों का मतलब मेरी समझ में आजाता है। "ताकि दूसरे लोग तुम्हें बुरा न कहें, तुम भी किसी को बुरा न कहो।" जितना ही

अधिक हम समझने लगते हैं उतना ही अधिक हमें पता लगता है कि हम कितने अज्ञ हैं और मनुष्य का मन किस तरह अनन्त प्रकार से कार्य कर रहा है। जब मैं छोटा था तब मैं अपने देशबांधवों की देहदण्डात्मक तपस्या के प्रकारों में नुक़ताचीनी किया करता था। हमारे देश के बड़े बड़े आचार्यों ने भी उन प्रकारों में नुक़ताचीनी की है। इतना ही नहीं, दुनिया के श्रेष्ठतम पुरुष भगवान् बुद्ध ने भी यह बात की है, लेकिन जैसे जैसे मैं बड़ा होता जा रहा हूँ, मैं देखता हूँ कि उनकी इस तरह नुक़ताचीनी करने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। यद्यपि उनकी बातें असंबद्ध होती हैं तोभी कभी कभी मैं भी चाहता हूँ कि उनकी कार्यक्षमता तथा सहनशक्ति का एक अंश मुझमें आजाय। मुझे अक्सर मालूम होता है कि यह जो मैं नुक़ताचीनी करता हूँ वह इसलिए नहीं कि मुझे देहदण्ड पसंद नहीं है, बल्कि इसलिए कि मैं डरपोक हूँ—मुझमें वह करने की हिम्मत नहीं है, मैं उसे आचरण में नहीं ला सकता।

तुम्हारे ध्यान में यह भी आजायगा कि बल, वीर्य तथा धैर्य ये ऐसी बातें हैं जो बिलकुल खास हैं। हम अक्सर कहा करते हैं कि यह मनुष्य शूर है, हिम्मतवाला है या धैर्यशील है; लेकिन हमें स्मरण रखना चाहिए कि शौर्य, धैर्य या अन्य गुण हमें केवल उसी मनुष्य में सभी अवस्थाओं में दिखाई देंगे ऐसा नहीं। एक मनुष्य जो तोप के मुँह में घुस जायगा डॉक्टर का चाकू देखकर पीछे हट जाता है, लेकिन दूसरा मनुष्य जो तोप देखने की भी हिम्मत

न करेगा मौका पड़ने पर डॉक्टर की चीरफाड़ शान्ति से सहन कर लेता है। इसलिए दूसरों के सम्बन्ध में अनुकूल या प्रतिकूल मत बनाने के समय तुम्हें 'हिम्मत' या 'बड़प्पन' की अपनी व्याख्या देनी चाहिए। हो सकता है कि जिस मनुष्य को मैं बुरा कहता हूँ वह अन्य कोई बातों में बहुत ही अच्छा हो जिनमें मैं कभी अच्छा नहीं हो सकता।

दूसरा उदाहरण लो। जब लोग मनुष्य और स्त्री की कार्य-शक्ति के सम्बन्ध में बातचीत करते हैं तो तुम देखोगे कि वे वही गलती कर बैठते हैं। मनुष्य के युद्ध तथा कठिन शारीरिक श्रम कर सकने के कारण वे समझते है कि वह अधिक श्रेष्ठ है। और इसके साथ स्त्री जाति की शारीरिक दुर्बलता तथा युद्धपराङ्मुखता की तुलना कर वे दोनों में विरोध दिखाते है।

पर ऐसा सोचना अन्याय है। स्त्री भी उतनी ही धैर्यशालिनी होती है जितना कि पुरुष। भला एक ऐसा मनुष्य बतलाओ जो बालक-संगोपन उतनी सहनशीलता तथा शान्ति एवं प्यार के साथ करेगा जितनी सहनशीलता, शान्ति और प्यार के साथ एक स्त्री कर सकती है। पुरुष ने अपनी कार्यक्षमता का सामर्थ्य बढ़ाया है तो स्त्री ने सहनशीलता का। अगर स्त्री में कार्यकारित्व नहीं है तो पुरुष कष्ट सहने में कच्चा है। यह सम्पूर्ण विश्व पूर्णतया समतोल है। मैं नहीं कह सकता लेकिन शायद एक दिन ऐसा आ जाय जब हमें यह दिख जाय कि एक क्षुद्र कीटक में भी वे गुण मौजूद

हैं जिनसे हम अपने मनुष्यत्व की तुलना कर सकते हैं। अत्यन्त दुष्ट मनुष्य में भी वे गुण हो सकते हैं जो मुझमें बिलकुल न हो। अपने जीवन में यह सत्य मैं प्रतिदिन देख रहा हूँ। इस जंगली ही की ओर देखो। मैं कितना चाहता हूँ कि मेरा शरीर भी ऐसा ही मजबूत होता। वह भरपेट खाता पीता है, फिर भी बीमारी क्या चीज़ है यह शायद जानता तक नहीं। इसके विरुद्ध मैं सर्वदा बीमार रहता हूँ। अगर मैं अपने मस्तिष्क से इसका शरीर बदल ले सकता तो कितना खुश होता। यह सारा विश्व उच्च-नीचता का खेल है। ऐसी कोई लहर नहीं जो उठती पड़ती न हो। समतोलता सर्वत्र अनुस्यूत है। तुम्हारे पास एक वस्तु बड़ी है तो तुम्हारे पड़ोसी के पास दूसरी। जब तुम पुरुष या स्त्री की योग्यता ठहराते हो तो उनके बड़प्पन के अलग अलग दण्डक से ठहराओ। प्रत्येक का कार्यक्षेत्र भिन्न है। किसी को भी 'दूसरा दुष्ट है' ऐसा कहने का अधिकार नहीं है। यह वही पुराना अन्धविश्वास है जो कहता है, "अगर तुम ऐसा करोगे तो संसार ही नष्ट हो जायगा।" यह चलता ही आ रहा है और फिर भी संसार आजतक नष्ट नहीं हुआ। इस देश में ऐसा कहा जाता था कि अगर निग्रो मुक्त कर दिये जायँ तो संसार रसातल को पहुँच जायगा। क्या ऐसा हुआ? लोग ऐसा कहते थे कि अगर साधारण जनता में ज्ञान का प्रसार होगा तो दुनिया का नाश हो जायगा। इस ज्ञानप्रसार ने तो उन्नति ही की। कई वर्ष पहले एक किताब छपी थी जिसमें एक चित्र

इस आशय का खिंचा था कि इंग्लैण्ड का सब से बुरा क्या हो सकता है। लेखक ने यह दिखलाया था कि मज़दूरी बढ़ती जा रही है और इस कारण इंग्लैण्ड का व्यापार घटता जा रहा है। ऐसा चिल्लाना शुरू हुआ कि अंग्रेजी मज़दूर बेहद मज़दूरी माँगते हैं और यह बतलाया गया कि जर्मन मज़दूर बहुत कम वेतन पर काम करते हैं। इस विधान की परीक्षा करने के लिए एक समिति जर्मनी भेजी गई और रिपोर्ट यह निकली की जर्मनी के मज़दूर तो अधिक वेतन पाते हैं। ऐसा क्यों हुआ? कारण यह है कि साधारण जनता में साक्षरता का प्रसार है। साधारण जनता पढ़ी लिखी होने से दुनिया नष्ट होने वाली थी न? पर ऐसा हुआ तो नहीं। खासकर भारतवर्ष में देश भर में ऐसे बूढ़े खड्डूस बहुत हैं जो सारा ज्ञान साधारण जनता से गुप्त रखना चाहते हैं। इस कल्पना में वे अपना बड़ा समाधान कर लेते हैं कि सारे विश्व के श्रेष्ठों में वे श्रेष्ठ है। वे समझते हैं कि साक्षरता के ये भयानक प्रयोग उनका नुकसान नहीं कर सकते, उससे नुकसान होगा तो साधारण जनता का ही।

अच्छा अब हम प्रत्यक्ष साधना की ओर झुकें। मानसशास्त्र का व्यवहार में उपयोग करने की ओर भारतवर्ष ने बहुत प्राचीन काल से ध्यान दिया है। ईसा के करीब १४०० वर्ष पूर्व भारत में एक बहुत बड़े तत्त्वज्ञ हो गये जिनका नाम 'पतंजलि' था। उन्होंने मानसशास्त्र के संशोधन-सिद्धान्त तथा प्रमाण संकलित किये

और पूर्व कालीन सब अनुभवों से लाभ उठाया। यह न भूलना चाहिए कि दुनिया बहुत पुरानी है। ऐसा मत समझो कि यह सिर्फ़ दो तीन हज़ार वर्ष पूर्व ही रची गई है। इधर तुम पाश्चिमात्यों को यह सिखलाया जाता है कि समाज का आरम्भ १८०० वर्ष पूर्व नये अहदनामे के साथ ही हुआ है। इसके पहले समाज नहीं था। सम्भव है यह बात पश्चिमी गोलार्ध के बारे में सच हो लेकिन सारी दुनिया को यह सत्य लागू नहीं होता। जब मैं लन्दन में भाषण दिया करता था तब मेरा एक बुद्धिमान और पढ़ा लिखा मित्र मुझसे वादविवाद किया करता था। एक दिन सारे शस्त्र चला चुकने के बाद वह एकदम बोल उठा, "लेकिन यह तो बताओ कि तुम्हारे ऋषि इस हमारी विलायत को ज्ञान देने क्यों नहीं आये?" मैंने जवाब दिया, "तब विलायत थी ही कहाँ जो ज्ञान देने आते? क्या वे जंगलों को सिखलाते?"

इंगरसॉल ने मुझसे कहा था कि "अगर तुम पचास साल पहले यहाँ ज्ञान सिखलाने आते तो या तुम्हें फाँसी पर चढ़ा दिया जाता या जिन्दा जला दिया जाता अथवा पत्थर मार मारकर तुम्हें शहर से बाहर निकाल दिया जाता।"

इसलिए यह मानना ठीक ही है कि यह संस्कृति ईसा के १४०० वर्ष पूर्व शुरू हुई हो। यह बात अभी तक निश्चित नहीं हुई है कि संस्कृति की गति सदा अधस्तल से उन्नततल की ओर ही हुई है। यह सिद्धान्त प्रस्थापित करने के लिए जो आधार तथा

प्रमाण पेश किये गये हैं उनसे यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि आज का जंगली समाज एक समय के उन्नत समाज का अधःपतित स्वरूप है।

अब चीन के लोगों का ही उदाहरण लो। उनका कभी इस बात पर विश्वास ही नहीं हो सकता कि संस्कृति का उदय जंगली हालत से हुआ है। उनका अनुभव इसके बिलकुल प्रतिकूल है। लेकिन जब तुम अमेरिका की संस्कृति के बारे में बात करते हो तो तुम्हारी दृष्टि से संस्कृति का अर्थ यही होता है कि स्वजाति का चिरजीवित्व तथा उसका सतत विकास।

यह विश्वास करना बड़ा सरल है कि जिन हिन्दुओं का आज ७०० वर्षों से पतन हो रहा है वे एक समय अवश्य ही खूब सुसंस्कृत रहे होंगे। इसके प्रतिकूल प्रमाण हम उपस्थित कर ही नहीं सकते।

ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है जहाँ कि संस्कृति खुद-ब-खुद पैदा हो गई हो। ऐसा कभी नहीं हुआ कि बिना किसी दूसरी सुसंस्कृत जाति के मिले कोई जाति उन्नत हो गई हो। संस्कृति का उदय पहले एक या दो जातियों में हुआ होगा और फिर ये जातियाँ दूसरी जातियों से मिलीं; उन्होंने अपने विचार फैलाये और इस तरह संस्कृति का विस्तार हुआ।

उपयोगिता की दृष्टि से आधुनिक शास्त्रीय भाषा में ही चर्चा करनी चाहिए, लेकिन मुझे तुम्हें सचेत कर देना चाहिए कि जिस

तरह धर्म के सम्बन्ध में अन्धविश्वास है उसी तरह शास्त्रीय विषयों में भी अन्धविश्वास हो सकता है। धार्मिक कार्य को अपना वैशिष्ट्य मानने वाले पुरोहितों के सदृश भौतिक विज्ञान के भी पुरोहित होते है जो वैज्ञानिक कहलाते हैं। ज्योंही डार्विन या हक्सले जैसे शास्त्रज्ञ का नाम लिया जाता है त्योंही हम आँख मींचकर उनका अनुकरण करने लगते हैं। यह तो आजकल का फैशन ही बन बैठा है। जिसे हम शास्त्रीय ज्ञान कहते हैं उसका नब्बे प्रतिशत केवल बौद्धिक उपपत्ति ही होता है। और इसमें से बहुत सा तो अनेक हाथ और सिर वाले भूतों में अंधविश्वास के सदृश ही होता है। फर्क इतना ही है कि इस दूसरी उपपत्ति में मनुष्य को पत्थरों अथवा डंठलों से कुछ थोड़ा पृथक् माना है। सच्चा विज्ञान हमें सावधान रहना सिखलाता है। जिस तरह पुरोहितों से हमें सावधान रहना चाहिए उसी तरह शास्त्रज्ञों से भी हमें सावधान रहना चाहिए। पहले अविश्वास से आरम्भ करो। छान बीन करो, परीक्षा करो और प्रत्येक वस्तु का प्रमाण माँगने के बाद उसे स्वीकार करो। आजकल के विज्ञान के बहुत से प्रचलित सिद्धान्त जिनमें कि हम विश्वास करते हैं प्रमाणित नहीं हुये हैं। गणित जैसे शास्त्र में भी बहुत से सिद्धान्त ऐसे हैं जो कि केवल मान ली हुई उपपत्ति के सदृश ही हैं। जब ज्ञान की वृद्धि होगी तो ये धुतकार दिये जायँगे।

ईसा के १४०० वर्ष पूर्व एक बड़े महात्मा ने मानसशास्त्र के कुछ सत्यों की व्यवस्थित रचना तथा विश्लेषण कर उनसे व्यापक

सिद्धान्त निकालने का प्रयत्न किया था। उनके बाद उनके अनेक अनुयायी आये जिन्होंने उनके संशोधित ज्ञान के अंश ले लिये और उन्हींका अध्ययन विशेष रूप से आरम्भ किया। प्राचीन जातियों में सिर्फ़ हिन्दुओं ने ही ज्ञान के इस विभाग का अध्ययन मन लगा-कर किया है। मैं अब तुम्हें वही सिखलाऊँगा, लेकिन तुममें से कितने उसका आचरण करोगे? बताओ तो कितने दिन या कितने महीनों के बाद ही तुम उसे छोड़ दोगे? मैं जानता हूँ कि इस विषय में तुम लोग बहुत ही अव्यवहारी हो। भारतवर्ष में मनुष्य युगानुयुग साबित क़दम ही रहेंगे। तुम्हें सुनकर आश्चर्य होगा कि न तो उनका कोई गिरजाघर ही है और न 'सामुदायिक प्रार्थना' की पुस्तक ही। वहाँ इस तरह के दूसरे साधन ही नहीं हैं, परन्तु फिर भी वे प्राणायाम का अभ्यास करते हैं तथा मन को एकाग्र करने का यत्न करते हैं। उनकी उपासना का मुख्य अंश यही है। असल में यह तो उस देश का धर्म ही है। हाँ, उनमें से प्रत्येक के प्राणायाम तथा मन को एकाग्र करने की पद्धति का खास तरीका है। पर यह आवश्यक नहीं कि किसी व्यक्ति की स्त्री भी वह तरीका जाने। शायद बाप भी लड़के का तरीका नहीं जानता है। लेकिन हिन्दुओं को ये अभ्यास करने ही होते हैं। इन अभ्यासों में कोई गूढ़ता नहीं है। गूढ़ता शब्द भी इनको लागू नहीं होता। रोज हज़ारों मनुष्य गंगा के किनारे आँख बंदकर ध्यान लगाये हुए प्राणायाम का अभ्यास करते हुए दिखाई देते हैं।

साधारण जनता किसी किसी प्रक्रिया को आचरण में नहीं ला सकती इसके दो कारण होते हैं। पहला तो यह कि आचार्यों के मत से साधारण जनता इस अभ्यास के योग्य नहीं होती। इस मत में कुछ सत्यांश हो सकता है, लेकिन अधिक सच्चा कारण है योग्य मार्गदर्शक का अभाव। दूसरा कारण है अत्याचार का भय; उदाहरणार्थ, तुम्हारे देश में आम तौर से प्राणायाम करना कोई पसंद न करेगा, क्योंकि लोग उस व्यक्ति को शायद सोचने लगें क्या अजीब जीव है यह! इस देश का ऐसा रिवाज ही नहीं है। इसके विरुद्ध भारतवर्ष में अगर कोई ऐसी प्रार्थना करे, "हे प्रभो, आज के दिन हमें हमारी हर रोज की रोटी दो" तो लोग उस पर हँसेंगे। "हे पिता, जो तू स्वर्ग मे रहता है" इसके समान तो हिन्दुओं की दृष्टि में दूसरी मूर्खता की कल्पना ही नहीं हो सकती। जिस समय हिन्दू उपासना करने बैठता है उस समय परमेश्वर अपने हृदय में विराजमान है, ऐसा वह समझता है।

योगियों के मत से मुख्यतः तीन नाड़ियाँ हैं। पहिली 'इड़ा,' दूसरी 'पिंगला' और बीच की 'सुषुम्ना'। तीनों मेरुदण्ड के भीतर रहती हैं। दाहिनी इड़ा और बाँई पिंगला, ये ज्ञानतंतुओं की बनी हुई हैं। बीच की सुषुम्ना यह ज्ञानतंतुओं की बनी हुई नहीं है। वह पोली है। सुषुम्ना बन्द रहती है और साधारण मनुष्य के लिए इसका कोई उपयोग नहीं होता। वह इड़ा और पिंगला ही से

अपना काम लिया करता है। इन्हीं नाड़ियों द्वारा संवेदना का प्रवाह लगातार आता जाता रहता है और सम्पूर्ण शरीर में फैले हुए ज्ञान-तंतुओं द्वारा शरीर की पृथक् पृथक् इन्द्रियों तक ये नाड़ियाँ हुक्म पहुँचाती रहती हैं।

इड़ा और पिंगला का व्यवहार नियमित करना और उनमें नियमित गति (Rhythm) उत्पन्न करना 'प्राणायाम' का एक महत्त्व का उद्देश्य है। पर यह स्वयं कुछ असामान्य कार्य नहीं है। यह सिर्फ अपने फेफड़ों मे काफी हवा लेना है और खून साफ करने के अलावा इसका कोई विशेष उपयोग नहीं। श्वासोच्छ्वास द्वारा हवा फेफड़ों में खींचना और उसके द्वारा खून साफ करना इसमें कोई गुप्त रहस्य नहीं है। यह विधि केवल शारीरिक क्रिया मात्र है।

प्राणायाम से सिद्ध हुई इड़ा, पिंगला की नियमित गति जब और भी नियमित होकर अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती है तब हम मूलभूत शक्ति को, जिसे हम 'प्राण' कहते हैं, प्राप्त होते हैं। विश्व में सर्वत्र दिखाई देनेवाली सब क्रियाएँ इस प्राण के विभिन्न रूप हैं। यह प्राण आभ्यन्तरिक सूक्ष्म महाशक्ति है। वही प्राण विद्युत् शक्ति है, वही चुम्बक शक्ति है। मस्तिष्क के द्वारा यह प्राणशक्ति विचार के रूप में प्रकट होती है। सब वस्तुएँ प्राण ही हैं और यही प्राण-शक्ति सूर्य, चन्द्र, तारे आदि को चलाती है।

हम कहा करते हैं कि इस विश्व में जो कुछ विद्यमान है वह सब प्राण के स्पन्दन का ही कार्य है। प्राण के सूक्ष्मतम स्पन्दनों

का कार्य है 'विचार'। इससे परे अगर कुछ है तो वह हमारी कल्पनाशक्ति के बाहर है। इस प्राण द्वारा इड़ा और पिंगला का कार्य होता है। विभिन्न शक्तियों का रूप लेकर शरीर के प्रत्येक विभाग को प्राण ही चलाता है। यह पुरानी कल्पना तुम छोड़ दो कि ईश्वर नाम का कोई है जो बाहर से ये सब कार्य चला रहा है और आकाश में सिंहासनस्थ हो न्याय करता है। काम करते समय हम थक जाते हैं, क्योंकि उसमें हम प्राणशक्ति का बहुत व्यय करते हैं।

श्वासोच्छ्वास के अभ्यास को ही हम प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम से श्वासोच्छ्वास नियमित होता है और प्राण की क्रिया में 'नियमित गति' उत्पन्न होती है। जब प्राण की गति नियमित होती है तो सब व्यवहार योग्य रूप से चलने लगते है। जब योगियों का शरीर उनके वश में हो जाता है और फिर शरीर के किसी अंग में रोग उत्पन्न होता है तो वे समझ लेते हैं कि उस अंग में प्राण की गति अनियमित हो रही है। वे फिर प्राण को उस विकृत अंग की ओर प्रेरित करते हैं जब तक कि उसकी गति फिर से नियमित रूप से शुरू नहीं हो जाती।

जिस तरह तुम अपने शरीरस्थ प्राण पर अपना अधिकार चला सकते हो उसी तरह अगर तुम काफ़ी शक्तिमान हो तो यहाँ रहकर भी भारतवर्ष के मनुष्यों के प्राण पर तुम अधिकार चला सकते हो। प्राण यहाँ से वहाँ तक एक वस्तु है। कहीं पर खण्ड

नहीं है। एकत्व ही उसका लक्षण है। आधिभौतिक, आधिदैविक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से वह एक है। जीवन सिर्फ उसकी एक लहर है। जो शक्ति आकाश तत्त्व में लहरें उत्पन्न करती है वही तुम्हें सचेतन रखती है। जिस तरह सरोवर में बर्फ के विभिन्न घनत्व के स्तर होते हैं उसी तरह यह विश्व भी जड़ भूतों का एक विभिन्न स्तर वाला समुद्र है। सूर्य, चंद्र, तारे और हम खुद भी इस महाकाश में अलग अलग घनत्व की वस्तुएँ हैं, लेकिन वह आकाशतत्त्व अखण्ड है—एकरस है।

जब हम दर्शनशास्त्र का अध्ययन करते हैं तो हमें यह ज्ञान होता है कि सम्पूर्ण विश्व एक है। आध्यात्मिक, पंचभौतिक, मानसिक तथा प्राण-जगत् ये भिन्न भिन्न नहीं हैं। समस्त विश्व यहाँ से वहाँ तक एक है, सिर्फ अलग अलग दृष्टिकोण से देखे जाने के कारण विभिन्न प्रतीत होता है। मै शरीर हूँ इस भावना से जब तुम अपनी ओर देखते हो तो मै मन भी हूँ यह भूल जाते हो। और जब तुम अपने को मनोरूप देखने लगते हो तो तुम्हें अपने शरीरत्व की विस्मृति हो जाती है। विद्यमान वस्तु सिर्फ एक है और तुम वह हो। वह तुम्हें या तो जड़ या शरीर के रूप में अथवा मन या आत्मा के रूप में दिख सकती है।

जन्म, जीवन, मरण ये सब भ्रम मात्र हैं। न कोई कभी मरता है, और न कोई कभी जन्म लेता है। बस यही बात है कि मनुष्य एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाता है। इधर पाश्चात्यों को मृत्यु का

बतंगड़ बनाते देख मुझे बहुत दुःख होता है। वे मानों जीवन को पकड़ रखने की कोशिश करते रहते हैं। "मृत्यु के बाद फिर हमें जीवन दो—फिर हमे जीवन दो।" अगर कोई आवे और उन्हें बतावे कि मृत्यु के बाद भी वे जिन्दा रहेंगे तो वे कितने खुश होते हैं। इसमें मैं अविश्वास किस तरह कर सकता हूँ। मैं मृत हूँ यह मैं किस तरह सोच सकता हूँ। तुम अपने को मरा सोचने की कोशिश करो और तुम देखोगे कि मृत शरीर से विभिन्न 'तुम' फिर भी विद्यमान रहते हो। जीवन एक ऐसा आश्चर्यमय सत्य है कि तुम एक क्षण भी उसका विस्मरण नहीं कर सकते। तुम्हें अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में भले ही शंका आ जाय, परन्तु 'मैं हूँ' यह बोध चैतन्य का मुख्य प्रमाण है। जिसका कभी अस्तित्व न था उसकी कल्पना ही कौन कर सकता है? इसलिए चैतन्य का अबाधित अस्तित्व स्वयंसिद्ध सत्य है। इसी कारण अमरत्व की कल्पना मनुष्य में स्वभावतः विद्यमान रहती है। जो विषय कल्पनातीत है उस पर मनुष्य विवाद ही क्योंकर कर सकता है? जो विषय स्वतःप्रमाण है उसके प्रामाण्य के सम्बन्ध में हम चर्चा क्योंकर करें?

इसलिए हम चाहे किसी दृष्टि से देखें, हमें प्रतीत होगा कि यह सम्पूर्ण विश्व एक ही वस्तु है। अभी हमें यह विश्व प्राण तथा आकाशशक्ति एवं जड़ का बना हुआ प्रतीत होता है। और आप लोग ख्याल रखे कि इतर मूलभूत सिद्धान्तों के समान यह सिद्धान्त

भी स्व-विरोधी है, क्योंकि शक्ति स्वयं क्या है? शक्ति वह है जो जड़ में गति उत्पन्न करती है। और जड़ क्या है? जड़ वह है जो शक्ति से गतिमान हो। तब तो यह चक्करझूला है। हमें विज्ञान तथा बुद्धि का अभिमान होते हुए भी हमारे कोई कोई मूलभूत तर्क-सिद्धान्त बड़े विचित्र होते है। जैसा कि संस्कृत सुभाषित में कहा है यह 'बेसिर का सिर दर्द है'। इस वस्तुस्थिति का नाम है 'माया'। न तो वह विद्यमान है और न अविद्यमान ही। यह विद्यमान है यह तुम इसलिए नहीं कह सकते कि सिर्फ वही वस्तु विद्यमान कहलाती है जो देश-काल से परे हो और स्वतःप्रमाण हो। फिर भी हमें ऐसी प्रतीति होती है कि यह विश्व कुछ अंशों में विद्यमान है। इसलिए इस विश्व का अस्तित्व है, ऐसा हमें आभास होता हैं।

परन्तु इस समस्त विश्व में एक सत् वस्तु ओतप्रोत है और वह देश, काल तथा कार्य-कारण के जाल में फँसी-सी है। मनुष्य का सच्चा स्वरूप वह है जो अनादि, अनन्त, आनन्दमय तथा नित्यमुक्त है; वही देश, काल और परिणाम के फेर में फँसा है। यही प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में सत्य है। प्रत्येक वस्तु का परमार्थ स्वरूप वही अनन्त है। यह विज्ञानवाद (Idealism) नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं कि विश्व का अस्तित्व ही नहीं है। इसका सापेक्ष अस्तित्व है और सापेक्षता के सब लक्षण इसमें विद्यमान हैं। लेकिन उसकी निरपेक्ष सत्ता नहीं है। वह इसलिए

विद्यमान है कि उसके पीछे देशकालकारणातीत निरपेक्ष सत्ता मौजूद है।

ख़ैर यह विषयान्तर हो गया है। आइए, अब हम फिर अपने मुख्य विषय की ओर आवें।

सारी क्रियाएँ चाहे वे चेतनायुक्त हों अथवा इच्छाशक्तिरहित, वे प्राण के ही कार्य हैं, जो ज्ञानतंतु द्वारा होते हैं। इससे तुम्हें अब मालूम होगा कि अज्ञातवश की हुई क्रियाओं पर अपना अधिकार चलाना एक अच्छी बात है।

✓ एक दूसरे मौके पर मैंने तुम्हें मनुष्य और परमेश्वर की व्याख्या बतलाई थी। मनुष्य एक अमर्याद वर्तुल है जिसकी परिधि नहीं है, लेकिन जिसका केन्द्र एक स्थान में निश्चित है, और परमेश्वर एक ऐसा वर्तुल है जिसे परिधि नहीं है परन्तु जिसका केन्द्र सर्वत्र है। वह सब हाथों द्वारा काम करता है, सब आँखों द्वारा देखता है, सब पैरों द्वारा चलता है, सब जीवों द्वारा जीवित रहता है, सब मुखों द्वारा बोलता है और सब मस्तिष्क द्वारा विचार करता है। अगर मनुष्य अपने 'अहंबोध को अनन्तगुणित करे तो वह परमेश्वर बन सकता है और सम्पूर्ण विश्व पर अपना अधिकार चला सकता है। इसलिए चैतन्य का ज्ञान कर लेना परमावश्यक है। हम ऐसा कहेंगे कि असीम अंधेरे में मानों एक अमर्याद रेखा है। हम वह रेखा नहीं देख सकते लेकिन उस रेखा पर एक तेजोमय बिन्दु है जो गतिमान है। इस रेखा के सहारे जैसे जैसे वह बिन्दु

आगे बढ़ता है वैसे वैसे वह विभिन्न भागों पर क्रमशः प्रकाश डालता जाता है और जो हिस्से पिछलते जाते हैं वे फिर से अंधेरे में डूब जाते हैं। हमारी चेतनावस्था को बखूबी इस प्रकाशमान बिन्दु की उपमा दी जा सकती है। वर्तमान ने उसके गत अनुभवों का स्थान ले लिया है या ऐसा कहो कि वे प्रसुप्त चेतनावस्था में जा चुके हैं। उनके अस्तित्व का हमें बोध नहीं होता, परन्तु फिर भी वे विद्यमान हैं और हमारे मन तथा शरीर पर अज्ञात भाव से परिणाम किये जा रहे हैं। इस क्षण जो जो कार्य चैतन्यावस्था की मदद लिये बिना ही बनते दिखाई दे रहे हैं वे पहले चैतन्यावस्था में थे। अब उनमें इतनी गति आगई है कि वे स्वयं ही कार्य कर सकते हैं।

सब नीतिशास्त्रों का, बिना किसी अपवाद के, एक बड़ा दोष यह है कि उन्होंने उन साधनों का कभी उपदेश नहीं दिया जिनके द्वारा मनुष्य बुरा करने से अपने को रोक सके। सभी नीतिग्रन्थ कहते हैं कि " चोरी मत करो "। ठीक है। लेकिन मनुष्य चोरी करता ही क्यों है? कारण यह कि चोरी, डाका, दुर्व्यवहार आदि दुर्गुण बिना किसी अपवाद के, इच्छाशक्तिरहित क्रियाएँ बन बैठी हैं। डाका डालने वाले, या चोर, झूठ अथवा अन्यायी स्त्री-पुरुष ऐसे इसलिए होते हैं कि अन्यथा होना उनके हाथ नहीं। सचमुच यह मानसशास्त्र के लिए एक बड़ी बिकट समस्या है। मनुष्य की ओर हमें बड़ी उदारता की दृष्टि से देखना चाहिये। अच्छा मनुष्य बनना

इतनी सरल बात नहीं है। जब तक तुम मुक्त न हो तब तक एक यंत्र के अलावा और तुम क्या हो? क्या तुम्हें इस बात पर अभिमान होना चाहिए कि तुम अच्छे मनुष्य हो? बिलकुल नहीं। तुम इसलिए अच्छे हो कि तुम अन्यथा हो ही नहीं सकते। दूसरा मनुष्य इसलिए बुरा है कि अन्यथा होना उसके अधिकार में नहीं है। अगर तुम उसकी जगह होते तो कौन जानता है कि तुम क्या होते। एक अनीतिमान स्त्री तथा जेल में का एक चोर मानों ईसा मसीह है जो इसलिए सूली पर चढ़ाया गया है कि तुम अच्छे बनो। प्रकृति में इसी तरह साम्यावस्था रहती है। सब चोर और खूनी, सब अन्यायी और पतित, सब बदमाश या राक्षस मेरे लिए ईसा मसीह हैं। देवरूपी ईसा तथा दानवरूपी ईसा इन दोनों ही का पूजन करने के लिए मैं बाध्य हूँ। यह मेरा विश्वास है और मैं अन्यथा नहीं कर सकता। मै अच्छे और साधु पुरुषों को प्रणाम करता हूँ और बदमाश और शैतानों के पैर पर भी मेरा सिर नमता है। वे सभी मेरे गुरु हैं, मेरे धर्मोपदेशक आचार्य हैं, मेरे रक्षक हैं। मैं चाहे किसी एक को शाप दूँ, परन्तु सम्भव है फिर उसी के दोषों से मेरा लाभ निकले। दूसरे को मैं आशीर्वाद दूँ और उसके शुभ कर्मों से मेरा हित हो। यह सूर्य-प्रकाश के समान सत्य है। दुराचारी स्त्री को मुझे इसलिए धुतकारना पड़ता है कि समाज यह चाहता है। आह वह! वह मेरा रक्षण करने वाली, जिसकी अनीति के ही कारण दूसरी स्त्रियों का

सतीत्व सुरक्षित रहा, इसका विचार करो! भाई और बहनो, इस प्रश्न को ज़रा अपने मन में सोचो। यह सत्य है—यह बिलकुल सत्य है। मैं जितनी ही अधिक दुनिया देखता हूँ, जितना ही अधिक मनुष्यों और स्त्रियों के सम्पर्क में आता हूँ उतनी ही मेरी यह धारणा दृढ़तर होती जाती है। मैं किसे दोष दूँ? मैं किसकी तारीफ़ करूँ? हमें वस्तुस्थिति का सब ओर से विचार करना चाहिए।

हमारे सामने बहुत बड़ा कार्य है। और इसमें सर्वप्रथम और सब से महत्त्व का काम है हमारे अनन्त सुप्त संस्कारों पर अधिकार चलाना, जो इच्छाशक्तिरहित क्रियाओं में परिणत हुए हैं।

यह बात सच है कि दुर्व्यवहार मनुष्य के जाग्रत क्षेत्र में विद्यमान रहता है, लेकिन जिन कारणों ने इस बुरे काम को जन्म दिया वे इससे परे प्रसुप्त और अदृश्य जगत् के हैं और इसलिए अधिक प्रभावशाली हैं।

व्यवहार्य मानसशास्त्र प्रथम हमें यह सिखलाता है कि हम अपने मन के अज्ञात क्षेत्र पर अपना अधिकार किस तरह चला सकें। हम जानते हैं कि हम ऐसा कर सकते हैं। क्यों? इसलिए कि हम जानते हैं कि जाग्रत भाव इस प्रसुप्त भाव का कारण है। हमारे जो लाखों पुराने जाग्रत विचार हैं वे ही डूबने पर हमारे प्रसुप्त अज्ञात संस्कार बन जाते हैं। पुराने जाग्रत भाव घनीभूत होते जाते हैं। हमारा उधर ख्याल ही नहीं जाता, हमें उनका

ज्ञान नहीं होता, हम उन्हें भूल जाते हैं। लेकिन देखो, ध्यान रहे, कि प्रसुप्त अज्ञात संस्कारों में अगर बुरा करने की शक्ति है तो उनमें अच्छा करने की भी शक्ति है। जिस तरह एक गठरी में बहुत सी चीज़ें बँधी हुई रहती हैं उसी तरह बहुत सी बातें हमारे अज्ञात क्षेत्र में रहती हैं। उन्हें हम भूल गये हैं, हम उनका विचार तक नहीं करते। उनमें से बहुत सी वहीं पड़ी सड़ती हैं और वास्तव में भयानक बनती जा रही हैं। ये ही प्रसुप्त कारण आगे बढ़ आते हैं और विश्व का नाश कर देते हैं। इसलिए सच्चा मानसशास्त्र इस बात की कोशिश करेगा कि इन प्रसुप्त भावों को जाग्रत भावों के स्वाधीन रक्खे। मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को जाग्रत करना जिससे कि वह अपना पूर्ण स्वामी बन जाय, एक बड़ा कार्य है। शरीरान्तर्गत यकृत आदि इन्द्रियों की इच्छा-शक्तिरहित क्रियाओं को भी हम अपना हुक्म मानने के लिए लगा सकते हैं।

अज्ञात क्षेत्र को अधिकार में रखना हमारे अभ्यास का पहिला भाग है। दूसरा है जाग्रत क्षेत्र के परे जाना। जिस तरह अज्ञात क्षेत्र जाग्रत क्षेत्र के नीचे—उसके पीछे रहकर—कार्य करता रहता है उसी तरह जाग्रत क्षेत्र के ऊपर—उसके अतीत—भी एक अवस्था है। जब मनुष्य इस अतिजाग्रत द्वन्द्वातीत अवस्था को पहुँच जाता है तो वह मुक्त होकर ईश्वरत्व को प्राप्त होता है। मृत्यु अमरत्व में परिणत हो जाती है, दुर्बलता असीम शक्ति बन जाती है और अज्ञान की

लोहश्रृंखलाएँ टूट जाती हैं। यही द्वैतबोधातीत अनन्त का पद है जो हमारा ध्येय है।

इसीसे यह स्पष्ट होता है कि हमको एक ही समय दो काम करने होंगे। एक तो है, शरीर में स्थित इड़ा और पिंगला के प्रवाहों को नियमित कर, अज्ञातवश होते हुए कार्यों को नियमित करना, और दूसरा है, साथ ही साथ द्वैतबोध के भी परे जाना।

ग्रंथों में कहा है कि वही योगी है जो दीर्घ काल तक चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करके इस सत्य को पहुँच जाता है। अब 'सुषुम्ना' का द्वार खुल जाता है और इस मार्ग से वह प्रवाह शुरू हो जाता है जो इसके पहिले वहाँ कभी न था और वह (जैसा कि अलंकारिक भाषा में कहा है) धीरे धीरे अनेक कमलों को खिलाता हुआ अन्त में मस्तिष्क तक पहुँच जाता है। तब योगी को उसके सत्य स्वरूप का ज्ञान होता है अर्थात् यह कि वही स्वयं परमेश्वर है।

हममें से प्रत्येक व्यक्ति बिना किसी अपवाद के, योग की इस अन्तिम अवस्था को प्राप्त कर सकता है। लेकिन यह अत्यन्त कठिन कार्य है। अगर मनुष्य को इस सत्य का अनुभव करना हो तो सिर्फ वक्तृता सुनने और श्वासोच्छ्वास की थोड़ी सी क्रियाओं का अभ्यास करने के अतिरिक्त कुछ विशेष साधना करनी होगी। महत्त्व है तैयारी ही को। दीपक जलाने को कितनी सी देर

लगती है ? लेकिन उस मोमबत्ती को बनाने में कितना अधिक समय लग जाता है। खाना खाने में कितनी देर लगती है? शायद आधा घंटा। लेकिन वही खाना पकाने के लिए कितने घंटे लग जाते हैं। हम चाहते हैं कि दीप एक क्षण में जल उठे, लेकिन हम यह भूल जाते हैं कि मोमबत्ती बनाना ही महत्त्व का भाग है।

इस प्रकार यद्यपि ध्येय-साधना बहुत कठिन है तथापि हमसे किये हुए बिलकुल छोटे छोटे प्रयत्न भी व्यर्थ नहीं जाते। हम जानते हैं कि कोई भी वस्तु नष्ट नहीं होती। गीता में अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से प्रश्न किया है कि वे मनुष्य जिनकी योगसाधना इस जन्म में सिद्ध नहीं हुई किस दशा को प्राप्त होते हैं? क्या वे ग्रीष्मकाल के मेघों की तरह नष्ट हो जाते हैं? श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया, "हे अर्जुन, कोई भी वस्तु नष्ट नहीं होती। जो कुछ मनुष्य एक बार अपना लेता है वह उसीका हो जाता है। और यदि योग की सिद्धि इस जन्म में न हुई तो दूसरे जन्म में मनुष्य फिर वह अभ्यास आरम्भ कर देता है।" यदि ऐसा नहीं है तो ईसा मसीह, बुद्ध अथवा शंकराचार्य के अलौकिक बाल्य का स्पष्टीकरण तुम कैसे दोगे ?

आसन, प्राणायाम इत्यादि योग के सहायक हैं अवश्य, लेकिन वे सिर्फ़ शारीरिक क्रियाएँ हैं। महत्त्व का पूर्वाभ्यास है मानसिक।

सब से पहले तो यह आवश्यक है कि हमारा जीवन शान्तिपूर्ण तथा समाधानयुक्त हो।

अगर तुम योगी बनना चाहते हो तो तुम्हें स्वतंत्र बनना चाहिए और अपने आसपास ऐसी परिस्थिति निर्माण करनी चाहिए जिससे कि तुम एकान्त में निश्चिन्त रह सको। अगर तुम्हें भोगयुक्त और सुखकर जीवन चाहिए और यह भी चाहते हो कि तुम्हें आत्मज्ञान हो जाय तो तुम उस मूर्ख मनुष्य के समान हो जिसने मगर को पकड़ रखा है और उस मगर को काठ का टुकड़ा समझकर उसके सहारे नदी को पार करना चाहता है। "पहले परमेश्वर के दरबार में पहुँचो और सब कुछ तुम्हें स्वयं ही मिल जायगा।" यही एकमेव महान् कर्तव्य है, यही त्याग है। किसी विशेष ध्येय के लिए ज़िंदा रहो और मन में कोई दूसरे विचार आने के लिए अवकाश ही मत रखो। आओ, हम अपनी सब शक्तियाँ उस आध्यात्मिक पूर्णता की ओर लगाएँ जिसका कभी क्षय नहीं होता। अगर हमें आत्मबोध की सचमुच लगन है तो हमें साधना करनी चाहिए और उसीके द्वारा हमारी उन्नति होगी। हम ग़लतियाँ करेंगे, लेकिन शायद वे ही हमारे लिए अज्ञात वरदान के सदृश हो जायँ।

आध्यात्मिक जीवन का सब से बड़ा सहारा है 'ध्यान'। ध्यान के द्वारा हम अपनी भौतिक भावनाओं से अपने आप को स्वतंत्र कर लेते हैं और अपने दिव्य स्वरूप का अनुभव करने

लगते हैं। ध्यान करते समय हमें कोई बाहरी साधनों पर अवलम्बित नहीं रहना पड़ता। गहरे अंधेरे स्थान को भी आत्मा की ज्योति दिव्य प्रकाश से भर देती है। बुरी से बुरी वस्तु में भी वह अपना सौरभ उत्पन्न कर सकती है। वह अत्यन्त दुष्ट मनुष्य को भी देवता बना देती है। सम्पूर्ण स्वार्थी भावनाएँ और सम्पूर्ण शत्रुभाव ही नष्ट हो जाते हैं। शरीर का जितना कम ख्याल हो उतना ही अच्छा, क्योंकि यह शरीर ही है जो हमारा अधःपतन करता है। इस शरीर की ममता, इस शरीर का अभिमान ही हमारे दुःखों का कारण है। 'मैं आत्मा हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ, यह विश्व और उसके सम्पूर्ण भाव, उसकी भलाई और उसकी बुराई ये सिर्फ चित्रपट पर खिंची हुई विभिन्न रेखाकृतियाँ हैं और मैं उनका साक्षी मात्र हूँ।'—यह निदिध्यासन ही धर्मजीवन का रहस्य है।

३. शाश्वत शान्ति का पथ

आज रात को मैं तुम्हें वेदों में लिखी हुई एक कहानी बतलाता हूँ। वेद हिन्दुओं के पवित्र शास्त्रग्रंथ हैं। ये साहित्य के विस्तृत संकलन हैं। इनका अन्तिम भाग 'वेदान्त' कहलाता है अर्थात् वेदों का पूर्ण विकास। वेदों में प्रतिपादित सिद्धान्त ही वेदान्त में विवेचना का विषय है, विशेषकर वह तत्त्वज्ञान जिसके सम्बन्ध में मैं आज बोलूँगा। स्मरण रहे कि वे आर्ष संस्कृत भाषा में हजारों वर्ष पूर्व के लिखे हुए हैं। लिखा है कि एक मनुष्य बड़े बड़े यज्ञ करना चाहता था। हिन्दू धर्म में यज्ञों का बहुत बड़ा महत्त्व है। यज्ञ अनेक प्रकार के होते हैं। उसमें वेदियाँ बनाते हैं, अग्नि को आहुतियाँ समर्पण करते है, स्तोत्र आदि पढ़ते हैं और अन्त में ब्राह्मणों तथा गरीबों को दान देते हैं। प्रत्येक यज्ञ की कोई विशेष दक्षिणा होती है। यह मनुष्य जो यज्ञ करना चाहता था वह ऐसा था कि उसमें मनुष्य को अपना सर्वस्व दान कर देना पड़ता था। यह मनुष्य यद्यपि धनिक था तथापि कंजूस था, परन्तु फिर भी यह चाहता था कि उसकी यह कीर्ति हो कि उसने यज्ञों में अत्यन्त कठिन यज्ञ किया है। इस यज्ञ में अपना सर्वस्व दान करने के बदले उसने अपनी अंधी, लंगड़ी और बूढ़ी गाएँ दीं जिन्होंने दूध देना बंद कर दिया था। लेकिन उसका नचिकेता नाम का एक

लड़का था। नचिकेता बड़ा होशियार लड़का था। जब उसने देखा कि उसका पिता निकृष्ट दान दे रहा है जिसका निश्चय ही उसे बुरा फल मिलेगा तो उसने निश्चय किया कि वह स्वयं को दान में अर्पण करके इस कमी की पूर्ति करेगा। इसलिए वह पिता के पास गया और पूछने लगा, "मुझे आप किसे अर्पण करोगे?" पिता ने कुछ उत्तर न दिया। लड़के ने फिर वही प्रश्न दूसरी और तीसरी बार पूछा। पिता चिढ़ उठा और बोला, "मैं तुझे यमराज को दूँगा, मै तुझे मृत्यु को अर्पण करूँगा।" बस, लड़का सीधा यमराज के दरबार को चला गया। यमधर्म घर पर न थे, इसलिए वह उनकी राह देखने लगा। तीन दिन के बाद यमराज आये और बोले, "ब्राह्मण, तुम मेरे अतिथि हो, तुम्हें यहाँ तीन दिन भूखा रहना पड़ा। मै तुम्हारा अभिवादन करता हूँ और तुम्हारी तकलीफ के बदले में मैं तुम्हें तीन वर देता हूँ। तुम अपने वर माँग लो।" बालक ने कहा, "पहिले वर से तो मेरे पिता का मुझ पर का क्रोध नष्ट हो जाय।" दूसरा वर किसी एक यज्ञ के विषय में था और तीसरे वर में उसने यह पूछा कि "जब मनुष्य मरता है तो उसका क्या होता है? कोई कहते हैं कि उसका अस्तित्व ही नहीं रहता, दूसरे कहते हैं कि मरण के पश्चात् भी वह विद्यमान रहता है। मेरा तीसरा वर यही है कि आप मेरे इस प्रश्न का उत्तर दें।" तब मृत्युदेव बोले, "देवताओं ने भी यह रहस्य पुराने जमाने में जानने की कोशिश की थी।

यह रहस्य सूक्ष्मतम होने से जानने के लिए बहुत कठिन है, इसलिए यह वर तू मत माँग। कोई दूसरा वर माँग ले। सौ साल का जीवन माँग ले, घोड़े माँग, पशु माँग, राज्य भी माँग ले, लेकिन इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मुझे बाध्य न कर। जो जो कुछ मनुष्य भोग करना चाहता है वह सब माँग ले, मैं सब कुछ दूँगा लेकिन यह रहस्य जानने की इच्छा मत कर।" लड़के ने जवाब दिया, "नहीं महाराज, धन से मनुष्य का समाधान नहीं होता। अगर धन की ही इच्छा होती तो वह आपके दर्शन मात्र से मिल सकता था। जब तक आप राज्य करते हैं तब तक हम जीवित भी रह सकते हैं। कभी जराग्रस्त न होने वाले अमरों के समीप पहुँचकर नीचे पृथिवी पर रहने वाला कौन मर्त्य विवेकी पुरुष होगा जो नृत्य गीतादि भोगों की अस्थिरता देखकर भी अति दीर्घ जीवन में सुख मानेगा ? इसलिए इहलोक के अनन्तर आने वाली मनुष्य की स्थिति का वह अद्भुत रहस्य ही मुझे बताइए। मैं और कुछ नहीं चाहता। मृत्यु के इस रहस्य को ही नचिकेता जानना चाहता है।" इस पर मृत्युदेव प्रसन्न हो गये। पिछले दो या तीन भाषणों में मैं यह कहता आया हूँ कि ज्ञान से मनुष्य का मन तैयार हो जाता है। इसलिए पहिली तैयारी यह है कि मनुष्य सत्य के सिवाय किसी अन्य वस्तु की इच्छा ही न रखे, सत्य लाभ के ही लिए सत्य की अभिलाषा करे। देखो, इस बालक की ओर देखो। सिर्फ एक बात के लिए—सिर्फ ज्ञान के लिए, सिर्फ सत्य के लिए

वह धन, राज्य, दीर्घ जीवन इत्यादि सभी कुछ जो यमराज उसे देने को उत्सुक थे त्यागने को तैयार हो गया। सत्य की प्राप्ति इसी तरह हो सकती है। मृत्युदेव प्रसन्न हो गये। उन्होंने कहा, "ये दो मार्ग हैं, देखो, एक है प्रेय अर्थात् भोग का और दूसरा श्रेय अर्थात् कल्याण का। मनुष्य को ये दो ही मार्ग अनेकानेक प्रकार से आकर्षित करते रहते हैं। उस मनुष्य का कल्याण होता है जो श्रेय के मार्ग का स्वीकार करता है। भोगमार्ग का स्वीकार करने वाले का पतन होता है; हे नचिकेता, मैं तेरी तारीफ़ करता हूँ, क्योंकि तूने वासनापूर्ति की अभिलाषा नहीं की, भोग की ओर तुझे लुभाने की मैंने अनेक प्रकार से चेष्टा की, लेकिन तूने उन सबका इन्कार किया; तूने यह जान लिया है कि भोग के जीवन से ज्ञानमय जीवन कितना अधिक ऊँचा है।

"तूने यह समझ लिया है कि जो मनुष्य अज्ञान में रहकर भोग भोगता रहता है उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं। फिर भी ऐसे कितने ही लोग होते हैं जो अविद्या में पूरी तरह से डूबे रहते हुए भी अभिमानवश अपने को पण्डित मानते हैं। ये मूढ़ एक अन्धे के नेतृत्व में चलने वाले दूसरे अन्धे के समान अनेक कुटिल गतियों की वासना रखते हुए भटकते फिरते हैं। हे नचिकेता, धन के मोह से अन्धे हुए तथा प्रमादशील बालबुद्धि वालों को यह सत्य नहीं सूझता।

"वे न तो इस दुनिया को पहिचानते हैं और न दूसरी को। वे इस लोक को ही न मानते हैं, न परलोक को और इसीलिए बार

बार मेरे वश में आजाते हैं। बहुत से मनुष्यों को तो यह ज्ञान सुनने को भी नहीं मिलता और दूसरे जो सुनते हैं समझ नहीं सकते, क्योंकि गुरु अत्यन्त निपुण व्यक्ति होना चाहिए तथा शिष्य भी, जिसे यह ज्ञान दिया जाता है। अगर वक्ता अच्छा अनुभवी न हो तो चाहे यह ज्ञान सौ बार सुना जाय और सौ बार मन में दुहराया जाय, परन्तु फिर भी हृदय में सत्य का प्रकाश न पड़ेगा। फ़िज़ूल वाद-विवाद से अपना मन अशान्त न करो। नचिकेता, यह ज्ञान उसी हृदय में प्रकाशित होता है जो पवित्र हुआ है। असीम प्रयास के बिना जिसका दर्शन नहीं होता, जो गुप्त है, हृदय के गूढ़तम प्रदेश में निहित है, जो पुराण पुरुष है, इन प्राकृत नेत्रों से जो देखा नहीं जा सकता उसे दिव्य चक्षु से देखकर मनुष्य सुख और दुःख दोनों ही से अतीत हो जाता है। जिसे यह रहस्य मालूम है वह अपनी सम्पूर्ण क्षुद्र वासनाओं का त्याग कर देता है और पूर्णत्व को प्राप्त कर दिव्य आनंद का अनुभव करने लगता है। हे नचिकेता, निःश्रेयस का मार्ग यही है। वह सद्गुणातीत है, दुर्गुणातीत है, धर्म से परे है, अधर्म से भी परे है, वर्तमान से भी अतीत है और भविष्य से भी अतीत है। जो यह जानता है उसी ने जाना है। जिसे सब वेद ढूँढ़ते हैं, जिसका दर्शन पाने के लिए लोग अनेक प्रकार की तपश्चर्याएँ करते हैं वह पद मैं तुझे बतलाता हूँ। वह है 'ॐ'। यह ॐ अक्षय है, यही ब्रह्म है, यही अमृत है। जो इसका रहस्य जान लेता है वह जो कुछ चाहता है वह

सब उसे मिल जाता है। यह मनुष्य में विद्यमान आत्मा, जिसे हे नचिकेता, तू जानना चाहता है, न तो कभी जन्मती है और न मरती है। यह अनादि है तथा सदा वर्तमान है। यह पुराण पुरुष शरीर नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। अगर मारने वाला सोचे कि मैं मार सकता हूँ और मरने वाला सोचे कि मैं मारा जाता हूँ तो दोनों ही ग़लती कर रहे हैं, क्योंकि आत्मा न तो किसी को मारती है और न मारी जा सकती है। वह अणु से भी छोटी है, वह बड़े से भी बड़ी है, वह सब की स्वामिनी है और प्रत्येक के हृदयरूपी गुहा में निहित है। जब पापों का क्षय हो जाता है तो उसी दयामय की दया से मनुष्य उसकी परम महिमा का दर्शन करता है। हम देखते हैं कि परमेश्वरप्राप्ति के हेतुओं में से उसकी दया एक हेतु है। वह आत्मा स्थित होती हुई भी दूर तक जाती है और शयन करती हुई भी सर्वत्र पहुँचती है। जिसका हृदय शुद्ध है तथा बुद्धि सूक्ष्म है उसके सिवाय और किसे आत्म-दर्शन का अधिकार है—उस आत्मा के दर्शन का जो सब विरोधों की समन्वय-भूमि है? उसका शरीर नहीं है, फिर भी वह शरीर में रहती है। वह स्पर्श से परे है फिर भी उसका शरीर से स्पर्श होता-सा मालूम होता है। वह सर्वव्यापक है। उसके इस स्वरूप को जानकर आत्मज्ञानी सब दुःखों से मुक्त हो जाते हैं। यह आत्म-दर्शन न तो वेदों के अध्ययन से होता है और न बहुश्रुत बनकर ही, तथा न तीक्ष्ण बुद्धि से ही। जिसे यह आत्मा वरती है

वही उसे पाता है और उसमें ही वह अपनी सम्पूर्ण महिमा में प्रकट होती है। जो निरन्तर दुष्कर्म करता रहता है, जिसका मन अशान्त रहता है, जो ध्यान नहीं कर सकता, जिसका हृदय सदा अस्थिर और चंचल रहता है, उसे केवल ज्ञान द्वारा आत्मदर्शन नहीं हो सकता। हे नचिकेता, यह शरीर रथ है और उसमें इन्द्रियों के घोड़े जुते हुए हैं। मन ही उनकी लगाम है और बुद्धि ही उस रथ का सारथी है जिसमें कि आत्मा ही रथी है। जब यह रथी सारथी से संयुक्त होता है, बुद्धि से सम्बन्ध जोड़ता है तथा उसके द्वारा जब यह मन से सम्बद्ध होता है, और जब यह मन द्वारा इन्द्रियरूपी घोड़ों से संयुक्त हो जाता है तब यह भोक्ता कहलाता है। तब वह दर्शन स्पर्शनादि क्रिया करने लगता है। तभी तो जिसका मन अपने वश में नहीं है और जो विवेकहीन है वह इन्द्रियों को अपने अधीन नहीं रख सकता। यह वैसे ही है जैसे नटखटी घोड़े सवार के अधीन नहीं रहते। लेकिन जो विवेकी है और जिसने अपने मन को स्वाधीन कर रक्खा है उसके वश में इन्द्रियाँ इस तरह रहती हैं जैसे कुशल सवार के काबू में अच्छे घोड़े। जो विवेकी है, जिसका मन सत्य-दर्शन के पथ पर सर्वदा अग्रसर होता है तथा जो सर्वदा शुद्ध है वही इस सत्य को पाता है। इस सत्य को पा लेने के पश्चात् मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं होता; परन्तु हे नचिकेता, यह मार्ग बहुत दुर्गम है, दीर्घ है तथा दुःसाध्य है। सूक्ष्म बुद्धि के मनीषी ही इसे समझ सकते हैं तथा

उसका अनुभव कर सकते हैं। तो भी हे नचिकेता, तू निर्भय रह। जग जा, उठ खड़ा हो और बिना ध्येय पाये विराम मत ले, क्योंकि आत्मज्ञानी कहते हैं कि छुरे की तीक्ष्ण धार पर चलने के समान यह पथ दुस्तर है। जो इन्द्रियों से अतीत है, जो अरूप है, रस के अतीत है, जो अविकार्य, अचिन्त्य, अनन्त और अनश्वर है उसे जानकर ही मनुष्य मृत्यु के मुख से बच जाता है।"

यहाँ हमने यह देखा कि हमारा कौनसा ध्येय होना चाहिए और यही यमधर्मराज ने वर्णन किया है। पहली बात यह है कि जन्म, मृत्यु, दुःख तथा इस दुनिया में मनुष्य को मिलने वाले अनेक झटके, केवल वही मनुष्य पार कर सकता है जिसने सत्य जान लिया है। सत्य क्या है? सत्य वह है जिसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। मनुष्य की आत्मा, विश्व की आत्मा ही सत्य है। पुनश्च यह भी कहा है कि उसे जानना दुष्कर है। जानने का अर्थ सिर्फ़ बुद्धिगम्यता ही नहीं हैं वरन् अनुभव करना है। बार बार दुहराकर हमने यही पढ़ा है कि इस आत्मा का दर्शन करना चाहिए, उसका अनुभव करना चाहिए। हम इन नेत्रों से उसे नहीं देख सकते, क्योंकि वह दर्शन परम सूक्ष्म बुद्धि द्वारा होता है। दीवार या पुस्तकें देखना केवल स्थूल दर्शन है। उस सत्य को जानने के लिए मनुष्य की दृष्टि सूक्ष्म होनी चाहिए। ज्ञान का यही परम रहस्य है। बाद में यमदेव कहते हैं कि मनुष्य को अत्यन्त पवित्र होना चाहिए। हमें अपनी दर्शन-शक्ति को सूक्ष्म बनाने का यही मार्ग है। और

इसके बाद वे हमें दूसरे मार्ग बतलाते हैं। वह सत्स्वरूप आत्मा इन इन्द्रियों के अत्यन्त परे है। दर्शन स्पर्शनादि के करणभूत ये इन्द्रियाँ सिर्फ़ बाह्य वस्तुओं को ही देखती हैं लेकिन यह स्वयंभू आत्मा अन्तर्मुख होने पर ही देखी जा सकती है। यहाँ साधक के लिए किस गुण की आवश्यकता है इसका तुम्हें स्मरण रहना चाहिए। वह है अपने नेत्रों को अन्तर्मुख कर आत्मा को जानने की अभिलाषा। निसर्ग में जो हम ये अनेक सुंदर वस्तुएँ देखते हैं वे वास्तव में आकर्षक हैं, परन्तु परमेश्वर के दर्शन का यह मार्ग नहीं है। हमें अपने नेत्रों को अन्तर्मुख करना सीखना चाहिए। बाह्य वस्तुओं को देखने के लिए नेत्रों की लालसा रोकनी चाहिए। जब तुम भीड़ भाड़ वाली सड़क पर घूमते हो तो अपने साथ चलने वाले मित्र की बातचीत सुनना तुम्हारे लिए कठिन होता है, क्योंकि आती जाती हुई गाड़ियों की बहुत आवाज़ होती रहती है और वह साथी भी तुम्हारी बात नहीं सुन सकते। तुम्हारा मन बहिर्मुख होने के कारण तुम उस मित्र की बात नहीं सुन सकते जो तुम्हारे बिलकुल समीप है। इस तरह यह संसार इतना बड़ा कोलाहल मचाता रहता है कि मन उधर खिंच जाता है। फिर आत्मा को हम कैसे देख सकते हैं? मन की यह बहिर्मुखता ही दूर करनी चाहिए। नेत्रों को अन्तर्मुख करने का अर्थ यही है। तभी अन्तर्यामी प्रभु की महिमा का साक्षात्कार होगा।

यह आत्मा क्या है? हमें मालूम हो गया है कि वह बुद्धि से भी अतीत है। यही कठोपनिषद् हमें बतलाता है कि यह आत्मा

शाश्वत और सर्वव्यापी है। तुम, मैं और हम सब लोग वास्तव में सर्वव्यापी आत्मा हैं और यह आत्मा अविकार्य है। अब यह सर्वव्यापी सद्वस्तु सिर्फ़ एक ही है। ऐसी दो वस्तुएँ हो ही नहीं सकतीं जो एक ही समय सर्वत्र विद्यमान हो। यह सम्भव भी किस तरह है? दो वस्तुएँ कभी अनन्त हो ही नहीं सकतीं। फलतः वास्तव में आत्मा एक ही है। तुम, मैं तथा यह सम्पूर्ण विश्व वही एक आत्मा है जो बहुरूपी-सा प्रतीत होता है। जब यह आत्मा पूर्ण शुद्ध तथा एकमेव सत्ता है तो फिर प्रश्न यह है कि जब इसका इस अपवित्र शरीर से इस दुष्ट या उस सुष्ट शरीर से सम्बन्ध होता है तो इसका क्या हो जाता है? इससे उसका पूर्णत्व किस तरह रह सकता है? "वह अकेला सूर्य ही प्रत्येक आँख में दृष्टि का कारण है, फिर भी उसे आँख के दोष लागू नहीं होते।" अगर किसी मनुष्य को 'पीलिया' रोग हो जाय तो उसे प्रत्येक वस्तु पीली ही पीली नज़र आवेगी। दृष्टि का कारण सूर्य है, परन्तु फिर भी उसकी आँख का पीला सूर्य पर कोई असर नहीं कर सकता। इसी तरह यह अद्वितीय सत्ता प्राणिमात्र का आत्मा होने पर भी उनमें विद्यमान गुण-दोषों से छुई नहीं जा सकती। "इस अशाश्वत जगत् में उस शाश्वत को जो जानता है, इस अचेतन संसार में उस चिन्मय प्रभु को जो पहचानता है, जो अनेकता में एकमेवाद्वितीय को समझता है और उसका अपनी आत्मा में दर्शन करता है वही शाश्वत शान्ति का अधिकारी होता है, दूसरा नहीं, दूसरा कभी नहीं। वहाँ न सूर्य प्रकाशित होता है, न

चन्द्रमा न तारे ही चमकते हैं और न बिजली ही लपकती है, फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या है ? उसके प्रकाश से ही प्रत्येक वस्तु प्रकाशित है। उसी के प्रकाश से प्रत्येक वस्तु प्रकाशित होती है । जब हृदय को दुःख देने वाली वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं तब मनुष्य अमर हो जाता है, ब्रह्मपद प्राप्त कर लेता है । जब हृदय की ग्रंथियों का भेद होता है, जब सब संशयों का निरास होता है तभी यह मर्त्य अमर बन जाता है । यही मार्ग है । यह अध्ययन हम सभों का रक्षण करे । हम सब इस ज्ञान का एक साथ उपयोग करें । हम सब में यह बल उत्पन्न करे । हम सब तेजस्वी और शक्तिशाली बनें और हम परस्पर विद्वेष न करें । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः । "

वेदान्त-दर्शन की विचारधारा इस प्रकार की है । इस वेदान्त में तुम ऐसे विचार पाओगे जो संसार के अन्य सब दर्शनों से बिलकुल निराले हैं । वेदों के प्राथमिक विभाग में उसी तत्त्व का शोध किया गया है जो अन्यान्य ग्रंथों में है । " इस संसार के पूर्व क्या था ? जब इस विश्व में न सत् ही था और न असत्, जब तम तम ही से गूढ़ था, ढका हुआ था उस समय ये सब वस्तुएँ किसने बनाई ? "—आदि आदि विचारों से अन्वेषण का आरम्भ हुआ । और फिर लोग देवदूत, देवता तथा इस तरह की अन्य बातें कहने लगे । और फिर हमें ज्ञात होता है कि अन्त में उन्होंने इस प्रकार के अन्वेषण का उसे अपर्याप्त समझकर तिरस्कार कर

दिया। उन दिनों यह खोज बाह्य वस्तुओं के विषय में ही थी, इसलिए वे लोग उससे कुछ फल न पा सके। लेकिन बाद में जैसा कि वेदों में बतलाया है उन्हें आत्मा की प्राप्ति के लिए अन्तर्जगत् के अन्वेषण की ओर झुकना पड़ा। वेदों का यह एक मूलभूत सिद्धान्त है कि तारागण, नीहारिका, आकाशगंगा तथा इस सम्पूर्ण बाह्य जगत् का विमर्श कर मनुष्य के हाथ कुछ नहीं लगता। इस परिशीलन से जन्म-मृत्यु की समस्या कभी न सुलझेगी। इस अन्तःस्थित अद्भुत यंत्र का उन्हें पृथक्करण करना पड़ा और इस पृथक्करण से उन्हें विश्व के रहस्य का पता चल गया; न कि चाँद, सूरज आदि के पृथक्करण से। मनुष्य का विश्लेषण करना पड़ा—उसके शरीर का नहीं, उसकी आत्मा का। और इस आत्मा में उन्हें अपने प्रश्न का उत्तर मिला। वह मिला हुआ उत्तर क्या था? वह उत्तर यह था कि इस शरीर के परे, इस मन के परे वह स्वयंभू आत्मा है। वह न तो मरती है और न जन्म लेती है। वह स्वयंभू आत्मा घट घट में भरी हुई है, क्योंकि उसका कोई आकार नहीं है। जिसका न आकार है न रूप, जो न काल से मर्यादित है और न देश से, वह एक विशिष्ट मर्यादा में कभी नहीं रह सकती। वह सर्वत्र विद्यमान है, सर्वव्यापी है। प्रत्येक वस्तु में उसकी समान सत्ता है।

मनुष्य की आत्मा क्या है? एक मत यह है कि एक ईश्वर है और उसके अतिरिक्त अनेक आत्माएँ हैं जो उस ईश्वर से सत्त्व की

दृष्टि से, रूप की दृष्टि से तथा अन्य सभी प्रकार से सर्वदा पृथक् हैं। यह मत तो हुआ द्वैतवाद। यह बहुत पुरानी असंस्कृत कल्पना है। दूसरा मत यह है कि यह जीव उसी अनन्त दिव्य सत्ता का अंश है। जिस तरह यह शरीर स्वयं एक छोटा सा जगत् है, उसके परे मन या विचारशक्ति तथा उस मन के भी परे हैं प्रत्यक् आत्मा—उसी तरह यह सम्पूर्ण विश्व एक शरीर है। उसके पीछे समष्टि मन है और समष्टि मन के पीछे परमात्मा है। जिस तरह यह व्यष्टि शरीर उस समष्टि विश्व शरीर का अंश है उसी तरह यह मन उस समष्टि मन का अंश है तथा यह प्रत्यगात्मा उस विश्वात्मा का अंश है। इसी का नाम है विशिष्टाद्वैत अर्थात् अंश-अंशीवाद। अब हम यह तो जानते हैं कि विश्वात्मा अनन्त है। फिर अनन्त के अंश कैसे हो सकते हैं, उसके विभाग किस तरह किये जा सकते हैं? यह कहना काव्यमय भले ही मालूम हो कि मैं उस अनन्त का एक स्फुलिंग हूँ, परन्तु यह विचारशील मन को बिलकुल अजब मालूम होगा। अनन्त को विभाजित करने का अर्थ ही क्या है? अगर यह सम्भव हो तो उसका अनन्तत्व ही निकल जावे। क्या वह कोई भौतिक जड़ वस्तु है जिसे तुम विभाजित अथवा खण्डित कर सकते हो? अनन्तत्व तो कभी विभक्त ही नहीं हो सकता। तो फिर निष्कर्ष क्या निकला? जबाब यह है कि वह विश्वात्मा तुम ही हो। तुम उसके अंश नहीं हो, वह सम्पूर्ण तुम हो, तुम ही स्वयं वह पूर्ण ब्रह्म हो। तो फिर यह नानात्मक विश्व

क्या है ? हम तो करोड़ों जीव देखते हैं, ये फिर क्या हैं ? अगर सूर्य पानी के करोड़ों बुलबुलों पर चमके तो हरएक बुलबुले में एक एक आकृति, सूर्य की एक सम्पूर्ण प्रतिमा दिखाई देगी। लेकिन ये सब प्रतिबिम्बमात्र हैं, सच्चा सूर्य सिर्फ़ एक ही है। इसी तरह यह जो हममें से प्रत्येक में आत्मा दिखाई-सी देती है यह उस परमेश्वर का सिर्फ़ प्रतिबिम्ब है इसके सिवाय और कुछ नहीं। सच्चा जीव जो इन सब के पीछे है, वह एक परमेश्वर ही है। हम सब वही एक हैं। इस विश्व में आत्मा एक ही है। वह तुममें है और मुझमें है। वह सिर्फ़ एक ही है। वही आत्मा इन विभिन्न शरीरों में विभिन्न जीवों के रूप में प्रतिबिम्बित हुई है। लेकिन यह हम नहीं जानते। हम समझते हैं कि हम एक दूसरे से और उस परमात्मा से पृथक् हैं। और जब तक हम ऐसा सोचेंगे तब तक संसार में दुःख और क्लेश बना रहेगा। यह तो बड़ा भ्रम है। अब दुःख का एक दूसरा उद्गम है भय। एक मनुष्य दूसरे पर आघात क्यों करता है ? इसलिए कि वह डरता है कि उसे काफ़ी उपभोग न मिलेगा। मनुष्य को यह डर रहता है कि उसे काफ़ी पैसा न मिलेगा, इसलिए वह दूसरे पर आघात करता है और उसे लूटता है। अगर यहाँ से वहाँ तक एक ही सत्ता का ज्ञान हो तो फिर डर कहाँ से आ सकता है ? अगर मेरे सिर पर वज्रपात हो जावे तोभी वह वज्र मैं ही हूँ, क्योंकि विश्व में सिर्फ़ एक मैं ही विद्यमान हूँ। अगर प्लेग आवे तो वह भी मैं ही हूँ और अगर शेर आवे

तोभी मैं वह हूँ। अगर मृत्यु आवे तोभी वह मैं ही हूँ। मृत्यु और जीवन दोनों ही मैं हूँ। जब हमें यह ख्याल होता है कि दुनिया में द्वैत है तो डर पैदा हो जाता है। हमने हमेशा यह उपदेश सुना है कि "एक दूसरे से प्यार करो।" किस लिए? यह सिद्धान्त सिखला दिया गया था लेकिन इसका स्पष्टीकरण यह है। मुझे प्रत्येक व्यक्ति से क्यों प्यार करना चाहिए? कारण यह है कि वह और मैं एक ही हूँ। मुझे अपने भाई से क्यों प्यार करना चाहिए? क्योंकि भाई और मैं एक हूँ। समस्त विश्व में यही एकता तथा अखण्ड एकरसत्व विद्यमान है। दुनिया में रेंगता हुआ छोटे से छोटा कीड़ा और उन्नत से उन्नत जीव यद्यपि इनका शरीर भिन्न भिन्न प्रकार का होता है तो भी दोनों एक ही आत्मा हैं। तुम्ही सब मुखों से भक्षण कर रहे हो, सब हाथों से तुम्ही काम कर रहे हो और सब आँखों से तुम्ही देख रहे हो। करोड़ों शरीर लेकर तुम्ही स्वास्थ्य भोगते हो और करोड़ों शरीरों में तुम्ही रोग सहते हो। जब यह विचार उत्पन्न हो जाता है, जब हमें उसका साक्षात्कार होता है, हम उसे देखते हैं तथा उसीका अनुभव करते हैं तो दुःख का अन्त हो जाता है और उसके साथ भय का भी। मैं कैसे मर सकता हूँ, मेरे सिवाय तो कुछ नहीं है इस विचार से जब भय का अन्त होता है तभी पूर्ण आनंद और सच्चे प्रेम की प्राप्ति होती है। वह विश्वव्यापिनी सहानुभूति, वह विश्वव्यापी प्रेम तथा वह अपरिवर्तनशील असीम आनंद मनुष्य को सर्वोच्च पद

प्राप्त करा देते हैं। उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती और न उसे दुःख का ही स्पर्श होता है, लेकिन दुनिया के ये क्षणभंगुर भोग सदा ही प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं। इस सब का कारण है द्वैतभाव अर्थात् यह भाव कि मैं दुनिया से अलग हूँ, मैं परमेश्वर से अलग हूँ। लेकिन ज्योंही यह भावना कि मै वह हूँ, मैं ही विश्व का आत्मा हूँ, मैं आनंदस्वरूप हूँ, मैं नित्यमुक्त हूँ, उत्पन्न हो जाती है, त्योंही सच्चा प्रेम प्रकट हो जाता है, डर भाग जाता है और दुःख दूर हो जाता है।

४. मन का सामर्थ्य

(राजयोग)

(लॉस एन्जल्स, कॅलिफोर्निया, में दिया हुआ भाषण ता. ८-१-१९००)

दुनिया के सब लोगों का सारे युगों से अलौकिक घटनाओं में विश्वास चला आ रहा है। हम सभों ने अनेक अद्भुत चमत्कारों के बारे में सुना है और हममें से कुछ ने उनका स्वयं अनुभव भी किया है। इस विषय का प्रारम्भ आज मैं अपने स्वयं देखे हुए चमत्कारों को बतलाकर करूँगा। मैंने एक बार ऐसे मनुष्य के बारे में सुना जो तुम्हारे मन के प्रश्न का उत्तर प्रश्न सुनने के पहिले ही तुम्हें तुरन्त बता देता था। और मुझे यह भी बतलाया गया कि वह भविष्य की बातें भी बताता है। मुझे उत्सुकता हुई और अपने कुछ मित्रों के साथ मैं वहाँ पहुँचा। हममें से प्रत्येक ने पूछने का प्रश्न अपने मन में सोच रखा था। ताकि ग़लती न हो, हमने वे प्रश्न काग़ज पर लिखकर जेब में रख लिये थे। ज्योंही हममें से एक वहाँ पहुँचा त्योंही उसने हमारे प्रश्न और उनके उत्तर कहना शुरू किया। फिर उस मनुष्य ने काग़ज पर कुछ लिखा, उसे मोड़ा और उसके पीछे मुझे दस्तखत करने के लिए कहा, और कहा, "पढ़ो मत, जेब में रख लो। यह तुम्हारा सवाल था और यह तुम्हारा जवाब है।"

इस तरह उसने हर एक से कहा। बाद में उसने हम लोगों को हमारे भविष्य की कुछ बातें बतलाईं। फिर उसने कहा, "अब किसी भी भाषा का कोई शब्द या वाक्य तुम लोग अपने मन में सोच लो।" मैंने संस्कृत का एक लम्बा वाक्य सोच लिया। वह मनुष्य संस्कृत बिलकुल जानता न था। उसने कहा, "अब अपने जेब का कागज़ निकालो।" वही संस्कृत का वाक्य उस कागज़ पर लिखा था और नीचे यह नोट लिखा था कि जो कुछ मैंने इस कागज़ पर लिखा है वही यह मनुष्य सोचेगा और यह बात उसने एक घंटा पहिले ही लिख दी थी! वही सच निकला। हममें से दूसरे को जिसके पास उसी तरह का कागज़ था कोई एक वाक्य सोचने को कहा गया। उसने अरबी भाषा का एक फिकरा सोचा। अरबी भाषा का जानना तो उसके लिए और भी असम्भव था। वह फिकरा था 'कुरान शरीफ' का। लेकिन मेरा मित्र क्या देखता है कि वह भी कागज़ पर लिखा है! हममें से तीसरा था वैद्य। उसने किसी जर्मन भाषा की वैद्यकीय पुस्तक का वाक्य अपने मन में सोचा। वह वाक्य भी कागज़ पर लिखा था।

यह सोचकर कि कहीं पहले मैंने धोखा न खाया हो, कई दिनों बाद मैं फिर दूसरे मित्रों को साथ लेकर वहाँ गया। लेकिन इस बार भी उसने वैसी ही आश्चर्यजनक सफलता पाई।

एक बार जब मैं हैदराबाद में था तो मैंने एक ब्राह्मण के विषय में सुना। यह मनुष्य न जाने कहाँ से कई वस्तु पैदा कर देता था।

वह उस शहर का व्यापारी था और ऊँचे खानदान का था। मैंने उसे अपने चमत्कार दिखलाने को कहा।

इस समय ऐसा हुआ कि वह मनुष्य बीमार था। भारतवासियों में यह विश्वास है कि अगर कोई पवित्र मनुष्य किसी के सिर पर हाथ रख देता है तो उसका बुखार उतर जाता है। यह ब्राह्मण मेरे पास आकर बोला, "महाराज, आप अपना हाथ मेरे सिर पर रख दें जिससे मेरा बुखार भाग जाए।" मैंने कहा, "ठीक है, लेकिन तुम हमें अपनी करामात दिखलाओ।" वह राज़ी हो गया। उसकी इच्छानुसार मैंने अपना हाथ उसके सिर पर रखा और बाद में वह अपना वचन पूरा करने को आगे बढ़ा। वह सिर्फ एक दुपट्टा पहने था। उसके बाकी सब कपड़े हमने अपने पास ले लिये थे। अब मैंने उसे सिर्फ़ एक कम्बल ओढ़ने के लिए दिया, क्योंकि ठण्ड के दिन थे और उसे एक कोने में बिठा दिया। पचास आँखें उसकी ओर ताक रही थीं। उसने कहा, "अब आप लोगों को जो कुछ चाहिए वह कागज़ पर लिखिये।" हम सब लोगों ने उन फलों के नाम लिखे जो उस प्रान्त में पैदा तक न होते थे—अंगुर के गुच्छे, सन्तरे इत्यादि। और हमने वे कागज़ उसके हाथ में दे दिये। पर आश्चर्य तो देखो कि उसके कम्बल में से अंगूर के गुच्छे तथा सन्तरे आदि इतनी तादाद में निकले कि अगर वजन किया जाता तो वह सब उस आदमी के वजन से दुगुने होते। उसने हमें वे फल खाने के लिए कहा। हममें से कुछ लोगों ने यह सोचकर कि शायद यह जादू टोना हो, खाने

से इन्कार किया। लेकिन उस ब्राह्मण ने ही खुद खाना शुरू किया। फिर हमने भी खाया। वे सब फल खाने योग्य ही थे।

अन्त में उसने गुलाब के ढेर निकाले। हर एक फूल पूरा खिला था। पंखड़ियों पर हिम-बिन्दु थे। कोई भी फूल न तो टूटा ही था और न दबकर खराब ही हुआ था और उसने ऐसे ढेर के ढेर निकाले। जब मैंने पूछा कि यह कैसे किया ? तो उसने कहा, "यह सिर्फ़ हाथ का खेल है।"

यह चाहे जो कुछ हो लेकिन सिर्फ़ 'हाथ का खेल' होना असम्भव है। इस बड़ी तादाद में वह ये चीज़ें कहाँ से पा सकता था ?

मैंने इसी तरह की अनेक बातें देखीं। भारतवर्ष में घूमते समय भिन्न भिन्न स्थानों में तुम्हें ऐसी सैकड़ों बातें दिखेंगी। ये चमत्कार सभी देशों में हुआ करते हैं। इस देश में भी इस तरह के आश्चर्य-कारक काम देखोगे। हाँ, यह सच है कि इनमें अधिकांश धोखेबाजी होती है। लेकिन जहाँ तुम धोखेबाजी देखते हो वहाँ तुम्हें यह भी कबूल करना पड़ता है कि यह किसी की नकल है। कहीं न कहीं असल होनी ही चाहिए जिसकी यह नकल की जा रही है। अविद्यमान की कोई नकल नहीं कर सकता। किसी विद्यमान वस्तु की ही नकल की जा सकती है।

प्राचीन समय में हज़ारों वर्ष पूर्व ऐसी बातें आज की अपेक्षा अधिक प्रमाण में हुआ करती थीं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जब लोग देश में घने बसने लगते हैं तो उनके मानसिक बल का ह्रास

होने लगता है। जो देश विस्तृत है और जहाँ लोग बिरले बसे होते हैं वहाँ शायद मानसिक बल कुछ अधिक होता है। विश्लेषणाप्रिय होने के कारण हिन्दुओं ने इन विषयों को लेकर उनके सम्बन्ध में अन्वेषण किया और वे कुछ मौलिक सिद्धान्त निकाल सके, अर्थात् उन्होंने इन बातों का एक शास्त्र ही बना डाला। उन्होंने यह अनुभव किया कि ये बातें यद्यपि असाधारण हैं तथापि अनैसर्गिक नहीं है। अनैसर्गिक नामक कोई भी वस्तु नहीं है। ये बातें भी वैसी ही नियमबद्ध हैं जैसी भौतिक जगत् की अन्यान्य बातें। मनुष्य इन सामर्थ्यों को साथ लेकर जन्म लेता है; यह केवल निसर्ग की लहर ही नहीं है। इन शक्तियों के सम्बन्ध में शास्त्रशुद्ध अध्ययन किया जा सकता है, प्रयोग किया जा सकता है और ये शक्तियाँ अपने में उत्पन्न की जा सकती हैं। इस शास्त्र को वे लोग 'राजयोग' कहते हैं। भारतवर्ष में ऐसे हजारों मनुष्य हैं जो इस शास्त्र का अध्ययन करते हैं और वह सम्पूर्ण राष्ट्र ही इस योग को अपनी दैनिक उपासना का अंग बनाये हुए हैं।

वे लोग इस सिद्धान्त को पहुँचे हैं कि यह सारा अद्भुत सामर्थ्य मनुष्य के मन में अवस्थित हैं। मनुष्य का मन समष्टि मन का अंश मात्र है। प्रत्येक मन दूसरे से संलग्न है और प्रत्येक मन, वह चाहे जहाँ रहे, सम्पूर्ण विश्व के व्यापार में प्रत्यक्ष भाग ले रहा है।

क्या तुम लोगों ने विचार-संक्रमण (Thought-transference) का चमत्कार देखा है? यहाँ एक मनुष्य कुछ विचार

करता है और वह विचार अन्यत्र किसी दूसरे मनुष्य में प्रकट हो जाता है। एक मनुष्य अपने विचार दूसरे मनुष्य के पास भेजना चाहता है, इस दूसरे मनुष्य को यह मालूम हो जाता है कि इस तरह का संदेश उसके पास आ रहा है। वह उस संदेश को ठीक उसी रूप में सुन लेता है जिस रूप में कि वह भेजा गया था। शास्त्र-शुद्ध पूर्व-साधनाओं से यह बात सिद्ध होती है। यह केवल आकस्मिक घटना नहीं है। दूरी के कारण कुछ फर्क नहीं पड़ता। वह संदेश उस दूसरे मनुष्य तक पहुँच जाता है और वह दूसरा मनुष्य उसे समझ लेता है। अगर तुम्हारा मन एक स्वतंत्र वस्तु होती जो वहाँ विद्यमान है, और मेरा मन दूसरी स्वतंत्र वस्तु होती जो यहाँ विद्यमान है, और इन दोनों मनों में यदि कोई सम्बन्ध न होता, तो मेरे विचार तुम्हारे पास कैसे पहुँच पाते? सर्वसाधारण व्यवहार में मनुष्य को प्रथम अपने विचारों को आकाशतत्व के स्पन्दनों में परिणत करना पड़ता है। ये स्पन्दन फिर दूसरे के मस्तिष्क में पहुँचते हैं। वहाँ फिर से इन स्पन्दनों का विचार में रूपान्तर होता है और तब मेरा विचार तुम्हारे पास पहुँच जाता है। मेरा विचार सीधा तुम्हारे पास नहीं पहुँचता। यहाँ पहले विचार आकाशतत्व में विश्लिष्ट होकर मिल जाता है और फिर उसीका वहाँ संग्रह हो जाता है। इस तरह का चक्राकार कार्यक्रम चलता है। लेकिन विचार-संक्रमण में इस तरह की क्रिया की कोई आवश्यकता नहीं होती।

इससे स्पष्ट है कि मन एक अखण्ड वस्तु है जैसा कि योगी कहते हैं। मन विश्वव्यापी है। तुम्हारा मन, मेरा मन, ये सब छोटे

छोटे मन उस समष्टि मन के अंश मात्र हैं, मानों समुद्र पर उठने वाली लहरें हैं; उस अखण्डता के कारण ही हम अपने विचारों को एकदम सीधे बिना किसी माध्यम के आपस में संक्रमित कर सकते है।

देखो, हमारे आसपास दुनिया में क्या चल रहा है। अपना प्रभाव चलाना, यही दुनिया है। हमारी शक्ति का कुछ अंश तो हमारे शरीर-धारण के उपयोग में आता है, परन्तु इसके अतिरिक्त हमारी शक्तियों का प्रत्येक अंश दूसरों पर अपना प्रभाव डालने में रातदिन व्यय होता रहता है। हमारे शरीर, हमारे गुण, हमारी बुद्धि तथा हमारा आत्मिक बल ये सब लगातार दूसरों पर प्रभाव डालते आ रहे है। इसी प्रकार उलटे रूप में दूसरों का प्रभाव हम पर पड़ता चला आ रहा है। हमारे आसपास यही चल रहा है। एक प्रत्यक्ष उदाहरण लो। एक मनुष्य तुम्हारे पास आता है, वह खूब पढ़ा लिखा है, उसकी भाषा भी सुन्दर है, वह तुमसे एक घंटा बात करता है, फिर भी वह अपना असर नहीं छोड़ जाता। दूसरा मनुष्य आता है। वह इने गिने शब्द बोलता है। शायद वे भी व्याकरणशुद्ध और व्यवस्थित नहीं होते, परन्तु फिर भी वह खूब असर कर जाता है। यह तो तुममें से बहुतों ने अनुभव किया है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य पर जो प्रभाव पड़ता है वह सिर्फ़ शब्दों द्वारा ही नहीं होता। केवल शब्द ही नहीं वरन् विचार भी शायद प्रभाव का एक तृतीयांश ही उत्पन्न करते होंगे, परन्तु शेष दो तृतीयांश प्रभाव उसके व्यक्तित्व का ही होता है। जिसे तुम वैयक्तिक

आकर्षण कहते हो वही प्रकट होकर तुम पर अपना असर डाल देता है।

प्रत्येक कुटुंब में एक मुख्य संचालक होता है। इनमें से कोई कोई संचालक घर चलाने में यशस्वी होते हैं परन्तु कोई नहीं। ऐसा क्यों? जब हमें अपयश मिलता है तो हम दूसरों को कोसते हैं। ज्योंही मुझे असफलता मिलती है त्योंही मैं कह उठता हूँ कि अमुक अमुक मेरे अपयश के कारण हैं। अपयश आने पर मनुष्य अपना कसूर और अपने दोष कबूल नहीं करना चाहता। प्रत्येक मनुष्य यह दिखलाने की कोशिश करता है कि वह निर्दोष है और सारा दोष वह किसी मनुष्य पर, किसी वस्तु पर, अन्ततः दुर्दैव पर मढ़ना चाहता है। जब घर का प्रमुख कर्ता सफलता न प्राप्त कर सके तो उसे यह सोचना चाहिए कि कुछ और लोग अपना घर किस प्रकार अच्छी तरह चला सकते हैं तथा दूसरे क्यों नहीं। तभी तुम्हें पता चलेगा कि यह सब उसी मनुष्य के ही कारण है। उस मनुष्य के व्यक्तित्व के कारण ही यह फ़र्क पड़ता है।

मनुष्य जाति के बड़े बड़े नेताओं की बात ली जावे तो हमें सदा यही दिखलाई देगा कि उनका व्यक्तित्व ही उनके प्रभाव का कारण था। अब बड़े बड़े प्राचीन लेखक और दार्शनिकों की बात लो। सच पूछो तो असल और सच्चे विचार उन्होंने हमारे सम्मुख कितने रखे हैं? गतकालीन नेताओं ने जो कुछ लिख छोड़ा है उसका विचार करो; उनकी लिखी हुई पुस्तकों को देखो और

प्रत्येक का मूल्य आँको। जिन्हें हम असल, नये और स्वतंत्र विचार कह सकते हैं वे इस संसार में सिर्फ़ मुट्ठी भर ही हैं। उन लोगों ने जो विचार हमारे लिए छोड़े हैं उनको उन्हीं की पुस्तकों में से पढ़ो तो वे हमें कोई बहुत बड़े नहीं प्रतीत होते, परन्तु फिर भी अपने जमाने में वे बहुत बड़े हो गये हैं। ऐसा क्यों होता है? सिर्फ उनके सोचे हुए विचारों के कारण ही नहीं, न उनकी लिखी हुई पुस्तकों के कारण ही, और न यही कि अपने दिये हुए भाषणों के कारण ही वे बहुत बड़े प्रतीत होते थे, वरन् किसी एक दूसरी ही बात के कारण जो अब निकल गई है, और वह है उनका व्यक्तित्व। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ व्यक्तित्व दो तृतीयांश होता है और बाकी एक तृतीयांश होती है मनुष्य की बुद्धि और उसके कहे हुए शब्द। सच्चा मनुष्यत्व या उसका व्यक्तित्व ही वह वस्तु है जो हम पर प्रभाव डालती है। हमारे कर्म हमारे व्यक्तित्व के बाह्य आविष्कार मात्र हैं। प्रभावी व्यक्तित्व कर्म के रूप से प्रकट होगा ही—कारण के रहते हुए कार्य का आविर्भाव अवश्यम्भावी है।

सम्पूर्ण शिक्षा तथा समस्त अध्ययन का एकमेव उद्देश है इस व्यक्तित्व को गढ़ना। लेकिन हम यह न करके सिर्फ़ बहिरंग पर ही पानी चढ़ाने का सदा प्रयत्न किया करते हैं। जहाँ व्यक्तित्व का ही अभाव है वहाँ सिर्फ़ बहिरंग पर पानी चढ़ाने का प्रयत्न करने में क्या लाभ? सारी शिक्षा का ध्येय है मनुष्य का विकास।

वह मनुष्यत्व जो अपना प्रभाव सब पर डालता है, जो अपने संगियों पर जादू-सा कर देता है, शक्ति का एक महान् केन्द्र बन जाता है और जब यह शक्तिशाली मनुष्य तैयार हो जाता है तो वह जो चाहे कर सकता है। यह व्यक्तित्व जिस किसी वस्तु पर अपना प्रभाव डालता है, उसी वस्तु को कार्यशील बना देता है।

यद्यपि हम देखते हैं कि यह बात सच है, तथापि फिर भी कोई भी भौतिक सिद्धान्त, जो हमें ज्ञात है, यह नहीं समझा सकता कि ऐसा किस तरह हो सकता है। रासायनिक या पदार्थ-वैज्ञानिक ज्ञान इसका विषदीकरण क्योंकर कर सकता है? कितनी ओषजन (Oxygen), कितनी उद्‌जनवायु (Hydrogen), कितना कोयला (Carbon) या कितने परमाणु और उनकी कितनी विभिन्न अवस्थाएँ, उनमें विद्यमान कितने कोष (Cells) इत्यादि इस गूढ़ व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण कर सकते हैं? फिर भी हम यह देखते हैं कि यह व्यक्तित्व एक सत्य है, इतना ही नहीं, बल्कि वही मनुष्यत्व का सार है और वही मनुष्य की सब क्रियाओं को अनुप्राणित करता है। वही सभों पर प्रभाव डालता है, संगियों को कार्य में प्रवृत्त करता है तथा उस व्यक्ति के लय के साथ विलीन हो जाता है। उसकी बुद्धि, उसकी पुस्तक और उसके किये हुए काम ये सिर्फ़ पीछे रहे हुए अवशेष मात्र हैं। इस बात का विचार करो। इनकी बड़े बड़े दार्शनिकों के साथ तुलना करो।

इन दार्शनिकों ने बड़ी आश्चर्यजनक पुस्तकें लिख डाली हैं, परन्तु फिर भी शायद कुछ ही अंशों में किसी के अन्तरंग पर उन्होंने प्रभाव जमाया होगा। इसके विपरीत सन्त महापुरुषों को देखो; उन्होंने अपने काल में सारे देश को हिला दिया था। व्यक्तित्व ही था वह, जिसने यह फर्क पैदा किया। दार्शनिकों का वह व्यक्तित्व जो असर पैदा करता है किंचिन्मात्र होता है और धर्म-संस्थापकों का वही व्यक्तित्व प्रचण्ड होता है। दार्शनिकों का व्यक्तित्व बुद्धि पर असर करता है और धर्मसंस्थापकों का जीवन पर। पहिला वर्ग मानों सिर्फ़ एक रासायनिक प्रक्रिया ही है जिसके द्वारा कुछ रासायनिक घटक एकत्रित होकर आपस में धीरे धीरे संयुक्त हो जाते हैं और अनुकूल परिस्थिति होने से या तो उनमें से प्रकाश की दीप्ति प्रकट होती है या वे असफल ही हो जाते हैं। दूसरा वर्ग एक जलती हुई मशाल के सदृश है जो शीघ्र ही एक के बाद दूसरी को प्रज्वलित करती जाती है।

योगशास्त्र यह हक साबित करता है कि उसने उन नियमों को ढूँढ़ निकाला है जिसके द्वारा इस व्यक्तित्व का विकास किया जा सकता है। इन नियमों तथा उपायों की ओर ठीक ठीक ध्यान देने से मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है और उसे बलिष्ठ बना सकता है। अनेक व्यवहार्य बातों में यह एक महत्व की बात है और शिक्षा का यही रहस्य है। इसकी उपयोगिता सार्व-देशीय होती है। चाहे वह गृहस्थ हो, चाहे गरीब, अमीर, व्यापारी

या धार्मिक—सभों के जीवन में व्यक्तित्व को बलिष्ठ बनाना ही एक महत्त्व की बात है। ऐसे अनेक सूक्ष्म नियम हैं जो हम जानते हैं कि इन भौतिक नियमों से अतीत हैं। मतलब यह कि भौतिक जगत्, मानसिक जगत् या आध्यात्मिक जगत् इस तरह की कोई नितान्त स्वतंत्र सत्ताएँ नहीं हैं। जो कुछ है सब एक तत्त्व है। या हम ऐसा कहेंगे कि यह सब एक ऐसी वस्तु है जो कि यहाँ पर मोटी है और जैसे जैसे यह ऊँची चढ़ती है वैसे ही वैसे वह सूक्ष्मतर होती जाती है; सूक्ष्मतम को आत्मा कहते हैं और स्थूलतम को शरीर। और जो कुछ छोटे प्रमाण में इस शरीर में है वही बड़े प्रमाण में उस विश्व में है। जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। यह हमारा विश्व ठीक इसी प्रकार का है। बहिरंग में स्थूल घनत्व है और जैसा जैसा यह ऊँचा चढ़ता है सूक्ष्मतर होता जाता है और अन्त में परमेश्वर रूप बन जाता है।

हम यह भी जानते हैं कि सब से अधिक शक्ति सूक्ष्म में है, स्थूल में नहीं। एक मनुष्य भारी वजन उठाता है। उसके स्नायु फूल उठते हैं और सम्पूर्ण शरीर पर परिश्रम के चिन्ह दिखने लगते हैं। हम समझते हैं कि उसके स्नायु बहुत मजबूत हैं। लेकिन असल में धागे से भी पतले ज्ञान-तंतु (nerves) हैं जो स्नायुओं को शक्ति देते हैं। जिस क्षण इन तंतुओं में से एक का भी स्नायुओं से सम्बन्ध टूट जाता है उसी क्षण वे स्नायु बेकाम हो जाते हैं। ये छोटे छोटे ज्ञान-तन्तु किसी अन्य सूक्ष्मतर वस्तु से अपनी शक्ति

ग्रहण करते हैं। और वह सूक्ष्मतर वस्तु फिर अपने से भी अधिक सूक्ष्म विचारों से शक्ति ग्रहण करती है। इसी तरह यह क्रम चलता रहता है। इसलिए वह सूक्ष्मतत्व ही है जो शक्ति का अधिष्ठान है। स्थूल में होने वाली हलचल हम अवश्य देख सकते हैं, परन्तु सूक्ष्म में होनेवाली हलचल हम देख नहीं सकते। जब स्थूल वस्तुएँ हलचल करती हैं तो हमें उसका बोध हो सकता है और स्वाभाविक ही हलचल का सम्बन्ध हम स्थूल से जोड़ देते हैं, लेकिन वास्तव में सारी शक्ति सूक्ष्म में ही है। सूक्ष्म में होने वाली हलचल हम देख नहीं सकते, शायद इसका कारण यह है कि वह हलचल इतनी शीघ्र होती है कि हम उसका अनुभव ही नहीं कर सकते। लेकिन यदि कोई शास्त्र या कोई शोध इन सूक्ष्म शक्तियों के ग्रहण करने में मदद दे तो यह व्यक्त विश्व ही, जो इन शक्तियों का परिणाम है, हमारे अधीन हो जायेगा। पानी का एक बुलबुला झील की तली से निकलता है, वह ऊपर आता है, लेकिन हम उसे देख नहीं सकते जब तक कि वह सतह पर आकर फूट नहीं जाता। इसी तरह विचार अधिक विकसित हो जाने पर या कार्य में परिणत हो जाने पर ही देखे जा सकते हैं। हम सदा यही कहा करते हैं कि हमारे कर्मों पर, हमारे विचारों पर हमारी हुकूमत नहीं चलती। लेकिन यह कैसे सम्भव हो सकता है? हम विचारों को मूल में ही अगर अधीन कर सकें तो इन सूक्ष्म हलचलों पर हमारी हुकूमत चल सकेगी। विचारों को कार्य में परिणत होने के पहले ही जब हम अधीन कर लेंगे

तभी सब पर हमारी हुकूमत चल सकेगी। अब अगर ऐसा कोई तरीका हो जिसके द्वारा हम कारणभावों का अर्थात् इन सूक्ष्म शक्तियों का पृथ-करण, संशोधन, ज्ञान और अन्त में व्यवहार कर सकें तो तभी हम खुद पर अपना अधिकार चला सकेंगे। और जिस मनुष्य का मन उसके अधीन होगा निश्चय ही वह दूसरों के मनों को अपने अधीन कर सकेगा। यही कारण है कि पावित्र्य तथा नीतिमत्ता सदा के लिए धर्म के विषय बने हुए हैं। शुचिर्भूत, सदाचारी मनुष्य स्वयं पर अपना अधिकार चलाता है। हम सब के मन, उस एक ही समष्टि-मन के अंश मात्र हैं। जिसे एक ढेले का ज्ञान हो गया उसने दुनिया की सारी मिट्टी जान ली। जो अपने मन को जानता है और स्वाधीन रख सकता है वह दूसरे के मनों का रहस्य पहचानता है और उन पर अपनी हुकूमत चला सकता है।

हम अपने भौतिक दुःखों का अधिकांश दूर कर सकते हैं अगर हम इन सूक्ष्म कारणों पर अपना अधिकार चला सकें। हम अपनी चिन्ताओं को दूर कर सकते हैं अगर यह सूक्ष्म हलचल हमारे अधीन हो जाय। अनेक अपयश टाले जा सकते हैं अगर हम इन सूक्ष्म शक्तियों को अपने अधीन कर लें। यहाँ तक उपयोगिता के बारे में कहा है लेकिन इसके परे और भी कुछ उच्चतर साध्य है।

अब मैं तुम्हें एक विचारप्रणाली बतलाता हूँ। उसके सम्बन्ध में मैं विवाद उपस्थित न करूँगा। सिर्फ सिद्धान्त ही तुम्हारे सामने रखूँगा। प्रत्येक मनुष्य अपने बाल्यकाल में ही उन उन अवस्थाओं

को पार कर लेता है जिनमें से उसका समाज गुजरा है। समाज को हज़ारों वर्ष लग जाते हैं और बालक कुछ वर्षों में ही उनमें से हो गुज़रता है। बालक प्रथम जंगली मनुष्य की अवस्था में होता है और तितली को अपने पैरों तले कुचल डालता है। आरम्भ में बालक अपनी जाति के जंगली पूर्वजों का सा होता है। जैसे जैसे वह बढ़ता है अपनी जाति की विभिन्न अवस्थाओं को पार करता जाता है जब तक कि वह अपनी जाति की उन्नतावस्था तक पहुँच नहीं जाता। फ़र्क यही है कि वह तेज़ी से और जल्दी जल्दी पार कर लेता है। अब सम्पूर्ण मानवसमाज को जाति मान लो या सम्पूर्ण प्राणि-जगत् और मनुष्य तथा निम्नस्तर के प्राणियों की एक जाति मानलो। एक ऐसा ध्येय है कि जिसकी ओर यह सम्पूर्ण विश्व बढ़ रहा है। उस ध्येय को हम पूर्णत्व नाम दे दें। कुछ मनुष्य या स्त्रियाँ ऐसी पैदा हो जाती हैं जो सम्पूर्ण मानवसमाज के भविष्यकालीन विकास की कल्पना पहिले ही कर सकती है। सम्पूर्ण मानवसमाज जब तक उस पूर्णत्व को न पहुँचे तब तक राह देखते रहना और पुनः पुनः जन्म लेना इसकी अपेक्षा वे कहते हैं कि चलो, जीवन के कुछ ही वर्षों में इन सब अवस्थाओं में से दौड़ चलें। और हम जानते हैं कि इन अवस्थाओं में से हम तेज़ी से दौड़ जा सकते हैं अगर हम सिर्फ आत्मवंचना न करें। असंस्कृत मनुष्यों को अगर हम एक द्वीप पर छोड़ दें और उन्हें पर्याप्त खाने, ओढ़ने तथा रहने को मिले तो वे धीरे धीरे उन्नत हो संस्कृति की एक एक सीढ़ी चढ़ते जावेंगे। हम

यह भी जानते हैं कि विशेष साधनों द्वारा इस विकास की गति बढ़ाई जा सकती है। क्या हम वृक्षों की बाढ़ में मदद नहीं करते? अगर वे निसर्ग पर छोड़ दिये जाते तो भी वे बढ़ते। फ़र्क यही है कि उन्हें अधिक समय लगता। निसर्गतः लगने वाले समय से कम समय में ही उनकी बाढ़ होने के लिए हम मदद पहुँचाते हैं। कृत्रिम साधनों द्वारा उनकी बाढ़ द्रुततर करना यही हम निरन्तर करते आये हैं। तो फिर हम मनुष्य का विकास शीघ्रतर क्यों नहीं कर सकते? समस्त जाति के विषय में हम वह कर सकते हैं। परदेशों में प्रचारक क्यों भेजे जाते हैं? क्योंकि इन मार्गों द्वारा जाति को हम शीघ्रतर उन्नत कर सकते हैं। तो अब क्या हम व्यक्ति का विकास शीघ्रतर नहीं कर सकते? अवश्य कर सकते हैं। तो क्या इस विकास की शीघ्रता की कोई मर्यादा बाँध दी गई है? यह हम नहीं कह सकते कि एक जीवन में मनुष्य कितनी उन्नति कर सकता है। ऐसा कहने के लिए तुम्हें कोई आधार नहीं कि मनुष्य सिर्फ़ इतनी ही उन्नति कर सकता है, अधिक नहीं। अनुकूल परिस्थिति से उसका विकास आश्चर्यजनक शीघ्रता से हो सकता है। तो क्या फिर मनुष्य के पूर्ण विकसित होने के पूर्व उसके विकास की कोई मर्यादा बाँध दी गई है? इस सब का तात्पर्य क्या है? एक पूर्ण विकसित मनुष्य जो इस जाति के विकास का आदर्श होगा और जो शायद करोड़ों वर्ष बाद अस्तित्व में आवे, आज ही जन्म ले सकता है। और यही बात योगी कहते हैं कि सब बड़े अवतार तथा धर्मसंस्थापक ऐसे ही

पुरुष होते हैं। उन्होंने इस एक ही जीवन में पूर्णत्व प्राप्त कर लिया है। दुनिया के इतिहास के सब कालों में इस तरह के मनुष्य जन्म लेते ही आये हैं। अभी कुछ ही दिन पूर्व एक ऐसे मनुष्य ने जन्म लिया था कि जिसने मानवसमाज के सम्पूर्ण जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का अनुभव अपने इसी जीवन में कर लिया था और जो इसी जीवन में पूर्णत्व तक पहुँच गया था। लेकिन विकास की यह शीघ्र गति भी कुछ नियमों के अनुसार होनी चाहिए। अब ऐसी कल्पना करो कि इन नियमों का हम संशोधन कर सकते हैं, उनका रहस्य समझ सकते हैं और उनको अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए उपयोग में ला सकते हैं, तो यह स्पष्ट है कि इससे हमारा विकास होगा। हम अपनी शीघ्रतर बाढ़ करें, शीघ्रतर अपना विकास करें तो इस जीवन में भी हम पूर्ण विकसित हो सकते हैं। हमारे जीवन का उदात्त अंश यही है और मनोविज्ञान तथा मन की शक्तियों का अभ्यास इस पूर्ण विकास को ही अपना ध्येय मानता है। पैसा देकर और भौतिक वस्तुएँ देकर सुगमता से जिन्दगी बसर करना सिखलाना ये सब जीवन की सिर्फ़ गौण बातें हैं।

मनुष्य को पूर्ण विकसित बनाना यही इस शास्त्र का उपयोग है। युगानुयुग प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। जैसे कि एक काठ का टुकड़ा केवल खिलौना बन समुद्र की लहरों द्वारा इधर उधर फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार हमारे लिए प्रकृति के जड़ नियमों के हाथ का खिलौना बनना आवश्यक नहीं। यह शास्त्र

चाहता है कि तुम बलवान् बनो, उन्नति-कार्य अपने ही हाथ में लो, प्रकृति के भरोसे पर मत छोड़ो और इस छोटे से जीवन के उस पार हो जावो। यही वह उदात्त ध्येय है।

ज्ञान में, शक्ति में, सुख में मनुष्य की उन्नति होती जा रही है। हमारी समस्त जाति लगातार उन्नति करती जा रही है। हम देखते हैं कि यह सच है, बिलकुल सच है। क्या यह प्रत्येक व्यक्ति के विषय में भी सत्य है? हाँ, कुछ अंश तक सच है। फिर दूसरा प्रश्न उठता है कि इसकी सीमा-रेखा कौन सी है? मैं तो सिर्फ़ कुछ ही गज़ दूरी पर देख सकता हूँ लेकिन मैंने ऐसा मनुष्य देखा है जो आँख बन्द कर लेता है और फिर भी बता देता है कि दूसरे कमरे में क्या हो रहा है। अगर तुम कहो कि हम नहीं विश्वास करते तो शायद तीन हफ्ते के अन्दर वह मनुष्य तुममें भी वैसा ही सामर्थ्य उत्पन्न कर देगा। यह किसी भी मनुष्य को सिखलाया जा सकता है। कुछ मनुष्य तो सिर्फ़ पाँच मिनिट के अन्दर ही यह जानना सीख सकते हैं कि दूसरे मनुष्य के मन में क्या चल रहा है। ये बातें प्रत्यक्ष कर दिखलाई जा सकती हैं।

अब अगर यह बात सच है तो सीमारेखा कहाँ पर खींची जा सकती है? अगर मनुष्य कोने में बैठे हुए दूसरे मनुष्य के मन में क्या चल रहा है यह जान सकता है तो वह दूसरे कमरे में बैठा रहने पर भी क्यों न जान सकेगा और अगर वह कहीं पर भी बैठा हो तो भी क्योंकर न जान सकेगा? हम नहीं कह सकते ऐसा क्यों

नहीं होगा। हम यह कहने की हिम्मत नहीं कर सकते कि यह असम्भव है। हम सिर्फ यही कह सकते हैं कि हम नहीं जानते यह कैसे सम्भव है। ऐसी बातें होना असम्भव है ऐसा कहने का भौतिक शास्त्रज्ञों को कोई अधिकार नहीं। वे सिर्फ कह सकते हैं, 'हम नहीं जानते।' शास्त्र का काम सिर्फ यही है कि घटनाओं को इकट्ठा कर उन पर सिद्धान्त बाँधे, अनुस्यूत नियमों को निकाले और सत्य का विधान करे। लेकिन अगर हम घटनाओं का ही इन्कार करने लगें तो शास्त्र ही कैसे बन सकता है?

मनुष्य कितनी शक्ति सम्पादन कर सकता है, इसका कोई अन्त नहीं। भारतवासी के मन की यही विशेषता है कि जब किसी एक वस्तु में उसे रुचि उत्पन्न हो जाती है तो वह उसी में मग्न हो जाता है और दूसरी बातों को भूल जाता है। तुम जानते हो कि कितने शास्त्रों का उद्गम भारतवर्ष में हुआ है। गणितशास्त्र का आरम्भ वहाँ ही हुआ। आज भी आप लोग संस्कृत अंक-गणना पद्धति के अनुसार एक, दो, तीन इत्यादि शून्य तक गिनते हैं और आपको यह भी मालूम है कि बीजगणित का उदय भारत में ही हुआ। उसी तरह न्यूटन का जन्म होने के हजारों वर्ष पूर्व ही भारतीयों को गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त अवगत था।

इस विशेषता की ओर ज़रा ध्यान दो। भारतीय इतिहास के एक समय में भारतवासियों का चित्त मानवी मन के अभ्यास में ही डूब गया था। और यह विषय अत्यन्त आकर्षक था, क्योंकि

कोई भी वस्तु प्राप्त करने का यह सुलभतम तरीका है यह उन्हें मालूम हुआ था। इस समय भारतवासियों का ऐसा दृढ़ निश्चय हो गया था कि विशिष्ट नियमों के अनुसार परिचालित होने से मन कोई भी कार्य कर सकता है। और इसीलिए मन की शक्तियाँ ही उनके अध्ययन का विषय बन गई थीं। जादू, मंत्र-तंत्र तथा अन्यान्य सिद्धियाँ उनके लिए कोई असाधारण बात न थी। यह भी इतनी सरलता से सिखलाया जाता था जितना कि उसके पूर्व भौतिक शास्त्र। इन बातों का लोगों में इतना विश्वास बैठ गया था कि भौतिक शास्त्र करीब करीब मरे से हो गये। यही एक बात थी जिसने उनका मन खींच रखा था। योगियों के विभिन्न सम्प्रदाय अनेक प्रकार के प्रयोग करने लगे। कुछ लोगों ने प्रकाश के सम्बन्ध में प्रयोग किये और यह जानना चाहा कि विभिन्न वर्णों की किरणों का शरीर पर कौनसा प्रभाव पड़ता है। वे विशिष्ट रंग का कपड़ा पहनते थे, विशिष्ट रंग में वास करते थे और विशिष्ट रंग के ही अन्न खाते थे। इस तरह सब प्रकार के प्रयोग किये जाने लगे। दूसरों ने अपने कान बन्दकर या खुले रखकर ध्वनि के विषय में प्रयोग करना आरम्भ किया और अन्य योगियों ने घ्राणेन्द्रिय के सम्बन्ध में।

सभी का ध्येय एक ही था—किसी वस्तु के मूल अथवा सूक्ष्म कारण तक किस प्रकार पहुँचना; और उनमें से कुछ लोगों ने सचमुच ही आश्चर्यजनक सामर्थ्य प्रकट किया। बहुतों ने आकाश

में विचरने और उड़ने का प्रयत्न किया। एक बड़े पाश्चात्य विद्वान् की बतलाई हुई एक कथा मैं कहूँगा। सीलोन के गव्हर्नर ने जिसने यह घटना प्रत्यक्ष देखी थी उससे कही थी। एक लड़की उपस्थित की गई और वह पलथी मारकर स्टूल पर बैठ गई। स्टूल लकड़ियों को आड़ी टेढ़ी जमाकर बना दिया गया था। कुछ देर उसके उस स्थिति में बैठने के पश्चात् वह मनुष्य धीरे धीरे एक एक कर लकड़ियाँ हटाने लगा और वह लड़की हवा में अधर ही लटकती रह गई। गव्हर्नर ने सोचा कि इस में कोई चालाकी है, इसलिए उसने तलवार खींची और तेज़ी से उस लड़की के नीचे से घुमाई। लेकिन लड़की के नीचे कुछ भी नहीं था। अब कहो: यह क्या है? यह कोई जादू न था और न कोई असाधारण बात ही थी। यही वैशिष्ट्य है। कोई भी भारतीय तुम्हें ऐसा न कहेगा कि इस तरह की घटना नहीं हो सकती। भारतीय के लिए यह एक साधारण बात है। तुम जानते हो कि हिन्दुओं को शत्रुओं से युद्ध करना होता है तो वे क्या कहते हैं, "हमारा एक योगी तुम्हारे झुण्ड मार भगावेगा।" उस राष्ट्र का यह दृढ़ विश्वास है। हाथ में और तलवार में ताकत कहाँ? ताकत है आत्मा में।

अगर यह सच है तो मन के लिए यह काफ़ी प्रलोभन है कि वह प्राणपन से प्रयत्न करे। लेकिन कोई बड़ा यश सम्पादन करना जिस तरह प्रत्येक शास्त्र में कठिन है उसी तरह इस क्षेत्र में भी। नहीं, बल्कि यहाँ अधिक कठिन है। फिर भी अनेक लोग समझते हैं

कि ये शक्तियाँ सुगमता से प्राप्त की जा सकती हैं। सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए तुम्हें कितने वर्ष व्यतीत करने पड़ते हैं? ज़रा इसका विचार तो करो। वस्तुशास्त्र के बिजली विभाग के अध्ययन में ही तुम्हें कितने वर्ष व्यतीत करने पड़ते हैं और फिर सारी उम्र उसे अमल में लाते रहना पड़ता है।

पुनश्च, इतर शास्त्रों का विषय है स्थिर वस्तुएँ—ऐसी वस्तुएँ जो हलचल नहीं करतीं। तुम कुर्सी का पृथक्करण कर सकते हो, कुर्सी दूर नहीं भाग जाती। लेकिन यह शास्त्र मन को अपना विषय बनाता है—वह मन जो सदा चंचल है। ज्योंही तुम उसका अध्ययन करना चाहते हो वह भाग जाता है। अभी मन में एक वृत्ति विद्यमान है, फिर दूसरी उदित हो जाती है, बस इस तरह वह मन सर्वदा बदलता ही जाता है। मन की इस चंचलता में ही उसका अध्ययन करना पड़ता है, उसे समझना पड़ता है, उसका आकलन करना पड़ता है, उसको अपने वश में लाना पड़ता है। तो फिर देखो कि यह शास्त्र कितना अधिक कठिन है! यहाँ कठिन अभ्यास की आवश्यकता है। लोग मुझसे पूछते हैं कि तुम प्रत्यक्ष प्रयोग कर क्यों नहीं सिखलाते? अजी! यह मज़ाक नहीं है। मैं इस प्लैटफार्म पर खड़े खड़े सम्भाषण करता हूँ और तुम घर चले जाते हो। तुम्हें कोई फ़ायदा नहीं होता और न मुझे ही। तब तुम कहते हो, "यह सब पाखण्ड है।" ऐसा इसलिए होता है कि तुम्हीं इसे पाखण्ड बनाना चाहते थे। इस शास्त्र-

का मुझे बहुत थोड़ा ज्ञान है, लेकिन जो कुछ थोड़ा बहुत मैं जानता हूँ उसका तीस साल तक मैंने अभ्यास किया है और छः साल हुए लोगों को वह सिखला रहा हूँ। मुझे तीस साल लगे इसके अभ्यास के लिए ! तीस साल की कड़ी कोशिश ! कभी कभी चौबीस घंटों में मैं बीस घंटे साधना करता रहा हूँ। कभी रात में एक ही घंटा सोया हूँ। कभी रात रात भर मैंने प्रयोग किये हैं, कभी कभी मैं ऐसे स्थानों में रहा हूँ जहाँ किसी प्रकार का कोई शब्द न था, सांस तक की आवाज़ न थी। कभी मुझे गुफाओं में रहना पड़ा है। इस बात का तुम विचार करो। और फिर भी मुझे बहुत थोड़ा मालूम है, या कहिए बिलकुल ही नहीं। मैंने बमुश्किल इस शास्त्र की मानों सिर्फ किनार छू पाई है। लेकिन मैं समझ सकता हूँ कि यह सच है, अपार है और आश्चर्य-जनक है।

अब अगर तुममें से कोई इस शास्त्र का सचमुच अध्ययन करना चाहता है तो उसी प्रकार के निश्चय से आरम्भ करना होगा जिस निश्चिति से वह किसी व्यवसाय का आरम्भ करता है। नहीं, बल्कि संसार के किसी भी व्यवसाय की अपेक्षा उसे इसमें अधिक निश्चय लगाना होगा।

व्यवसाय के लिए कितनी सावधानता की ज़रूरत होती है और वह व्यवसाय कितने कड़े श्रम की हमसे माँग करता है। अगर बाप, माँ, औरत, बच्चा भी मर जावे तो भी व्यवसाय नहीं

रुकता। चाहे हमारे हृदय के टुकड़े टुकड़े हो रहे हों फिर भी हमें व्यवसाय की जगह पर जाना ही होगा, फिर चाहे व्यवसाय का हर एक घंटा हमारे लिए यंत्रणा क्यों न हो। यह है व्यवसाय और हम फिर भी समझते हैं कि यह ठीक ही है, इसमें क्या अन्याय है?

यह शास्त्र किसी भी अन्य व्यवसाय से अधिक लगन माँगता है। व्यवसाय में तो अनेक यशस्वी हो सकते हैं, लेकिन इस मार्ग में बहुत ही थोड़े, क्योंकि यहाँ पर मुख्यतः अध्येता की मानसिक गठन पर ही सब कुछ अवलम्बित रहता है। जिस प्रकार व्यवसायी चाहे दौलत जोड़ सके चाहे न जोड़ सके लेकिन कुछ कमाई तो ज़रूर कर लेता है, उसी प्रकार इस शास्त्र के प्रत्येक अध्येता को कुछ ऐसी झलक अवश्य मिलती है जिससे उसका विश्वास हो जाता है कि ये बातें सच हैं और ऐसे मनुष्य पैदा हो सकते हैं जिन्होंने पूर्ण सत्य का अनुभव कर लिया है।

इस शास्त्र की यह सिर्फ़ रूप-रेखा है। यह शास्त्र स्वतःप्रमाण तथा स्वयंप्रकाश है और आह्वान करता है कि आप इसकी अन्य शास्त्रों से तुलना करो। दुनिया में पाखण्डी, जादूगार, धोखेबाज़ अनेक हो गये हैं और विशेषतः इस क्षेत्र में। ऐसा क्यों? इसीलिए कि जो व्यवसाय जितना अधिक फायदेमंद होता है उसमें उतने ही अधिक पाखण्डी और धोखेबाज़ होते हैं। लेकिन उस व्यवसाय के अच्छे न होने के लिए यह कोई कारण नहीं। एक बात और

बतला देना चाहता हूँ। इस शास्त्र के अनेक वादों को सुनना बुद्धि के लिए चाहे बड़ी अच्छी कसरत हो, और आश्चर्यजनक बातें सुनने से चाहे तुम्हें बौद्धिक संतोष प्राप्त हो, लेकिन अगर सचमुच तुम्हें कुछ सीखने की इच्छा है तो सिर्फ सम्भाषणों को सुनने से काम न चलेगा। यह व्याख्यानों द्वारा नहीं सिखलाया जा सकता, क्योंकि यह शास्त्र है अनुभूतिनिष्ठ; और अनुभूति ही अनुभूति प्रदान कर सकती है। अगर तुममें से सचमुच कोई अध्ययन करना चाहता है तो उसको मदद देने में मुझे बहुत आनंद होगा।

५. खुला रहस्य

(ज्ञानयोग)

(लॉस एन्जलस, कॅलिफोर्निया, में दिया हुआ भाषण)

वस्तुओं का सत्य धर्म क्या है यह जानने के लिए हम चाहे जिस दिशा में झुकें, गंभीर चिन्ता करने पर हमें यही दिखाई देगा कि अन्त में हम वस्तुओं की एक ऐसी अजीब अवस्था पर आ पहुँचते हैं जो विरोधात्मक-सी प्रतीत होती है। हम उस अवर्ण्य धर्म को आ पहुँचते हैं जो बुद्धि से ग्रहण तो किया नहीं जा सकता, परन्तु फिर भी सत्य है। हम एक वस्तु संशोधन के लिए लेते हैं—हम जानते हैं कि वह सान्त है। लेकिन ज्योंही हम पृथक्करण करने लगते हैं तो हमें वह एक ऐसे क्षेत्र में ले जाती है जो बुद्धि के अतीत है। उसके गुणधर्मों का, उसकी सम्भवनीय अवस्थाओं का, उसकी शक्तियों और उसके सम्बन्धों का हम अन्त नहीं पा सकते। वह अनन्त बन जाती है। उदाहरणार्थ, प्रतिदिन के व्यवहार का एक फूल ही ले लो। वह तो सान्त ही है। लेकिन ऐसा कौन है जो कह सकता है कि मैंने फूल के बारे में सब कुछ जान लिया? उस फूल की अवस्थाओं का अन्त ज्ञात होना किसी के लिए भी सम्भवनीय नहीं है। आरम्भ में फूल सान्त

प्रतीत होता था, अब वह अनन्त बन बैठा है। रेती का एक कण लो। उसका पृथक्करण करो। हम यह मानकर आरम्भ करते हैं कि वह सान्त है; पर बाद में हम देखते हैं कि वह सान्त नहीं है, वह अनन्त है। फिर भी हम उसे सान्त वस्तु की दृष्टि से ही देखते आये थे। इस तरह फूल को भी हम एक सान्त वस्तु की दृष्टि से ही देखते हैं।

यही नियम विचारों और अनुभवों के विषय में है, चाहे वह अनुभव भौतिक हो अथवा मानसिक। आरम्भ में हम वस्तुओं को छोटी समझकर ग्रहण करना चाहते हैं, लेकिन शीघ्र ही वे हमारे ज्ञान को धोखा दे देती हैं और अनन्त के गर्त में विलीन हो जाती हैं। सब से महत्त्वपूर्ण और साक्षात् बोध होता है 'अहं' का। इस अहं की सत्ता के विषय में भी वही विकट समस्या उपस्थित हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारा अस्तित्व है। हम देखते हैं कि हम सान्त जीव हैं। हम जन्म लेते हैं और हमारी मृत्यु होती है। हमारे जीवन का क्षितिज परिमित है। यह देखो, हम इस विश्व में मर्यादित अवस्था में विद्यमान हैं। निसर्ग एक क्षण में हमारा अस्तित्व मिटा सकता है। हमारे छोटे छोटे शरीर बमुश्किल संकलित हैं, लेकिन किसी भी क्षण टुकड़े टुकडे होने के लिए तैयार जैसे हैं। यह हमें निश्चित मालूम है। कर्म के क्षेत्र में भी हम कितने असहाय हैं। हर घड़ी हमारी इच्छाशक्ति पर आघात होता है। हम कितनी बातें करना चाहते हैं और कितनी थोड़ी

कर पाते हैं। हमारी वासना का कोई अन्त नहीं। हम किसी भी वस्तु की वासना कर सकते हैं। कोई भी वस्तु चाह सकते हैं, हम व्याध के तारे तक पहुँचने की भी इच्छा कर सकते हैं। परन्तु हमारी कितनी कम इच्छाएँ पूर्ण होती हैं! शरीर ही हमारी इच्छाएँ पूर्ण न होने देगा। स्वयं प्रकृति ही हमारी इच्छापूर्ति के विरुद्ध है। हम असहाय हैं, दुर्बल हैं। भौतिक जगत् के फूल या रेती के कण को तथा मानस-जगत् के विचारों को जो सिद्धान्त लागू है वही सिद्धान्त हजार गुना हमारे जीवन को लागू है। विद्यमान अन्यान्य वस्तुओं के सम्बन्ध में जो बिकट समस्या है वही हमारी सत्ता के विषय में भी है—हम एक ही साथ सान्त और अनन्त हैं। हम समुद्र पर उठने वाली लहरों के समान हैं। लहर समुद्र से बिलकुल ही पृथक् नहीं है, फिर भी वह स्वयं समुद्र नहीं है। लहर का ऐसा कोई हिस्सा नहीं है जिसे हम ऐसा कह सकें कि 'यह समुद्र नहीं है।' 'समुद्र' यह अभिधान उसे तथा समुद्र के प्रत्येक अंग को समान रूप से लागू है और फिर भी प्रत्येक लहर समुद्र से स्वतंत्र है। इसी तरह इस सत्ता-रूपी अनन्त सागर में हम छोटी छोटी लहरों के समान हैं। अन्यतः जब हम खुद का ग्रहण करना चाहते हैं तो हम अपने को सचमुच नहीं पकड़ पाते, क्योंकि तब हम अनन्त बन जाते हैं।

हम लोग स्वप्न-जगत् में चल-से रहे हैं। स्वप्न के समय में स्वप्न सत्य ही होते हैं, लेकिन ज्योंही हम उन्हें ग्रहण करना चाहते

हैं वे लुप्त हो जाते हैं। ऐसा क्यों? इसलिए नहीं कि वे झूठे हैं, लेकिन इसलिए कि वे तर्क और बुद्धि की ग्रहण-शक्ति के परे हैं। इस दुनिया की प्रत्येक वस्तु इतनी विशाल है कि उसकी तुलना में हमारी बुद्धि कुछ भी नहीं है, वह तर्क के नियमों में बैठने से इन्कार करती है। बुद्धि उसके आसपास जब अपने पाश फैलाना चाहती है तो वह हँसती है। आत्मा के विषय में तो यही तत्त्व हज़ार गुना सत्य है। 'स्वयं हम' ही दुनिया में सब से बड़ा रहस्य है।

ओह! यह सब कितना आश्चर्यमय है। मनुष्य की आँख ही देखो, उसका कितनी आसानी से नाश हो सकता है। फिर भी, इस विशाल सूर्यमण्डल का अस्तित्व तुम्हें क्यों प्रतीत होता है? इसलिए कि तुम्हारी आँख उसे देख रही है। दुनिया इसलिए विद्यमान है कि तुम्हारी आँख सिफ़ारिश करती है कि वह विद्यमान है। ज़रा इस रहस्य पर विचार करो। ये बिचारी छोटी आँखें! तेज़ उजाला या एक अल्पीन इन्हें नष्ट कर दे सकती है। लेकिन नाश के बृहत्तम यंत्र, प्रलयकाल के बलिष्ठतम साधन, कोट्यवधि सूर्य, तारे, चन्द्र, भूमण्डल इन सब का अस्तित्व इन दो छोटी आँखों पर अवलम्बित है और इन्हें इन दो छोटी आँखों की सिफ़ारिश की आवश्यकता होती है। आँखें कहती हैं कि 'हे प्रकृति, तुम विद्यमान हो' और हम विश्वास करते हैं कि प्रकृति विद्यमान है। हमारी प्रत्येक इन्द्रिय के बारे में ठीक यही सच है।

यह क्या है? फिर कौन कनिष्ठ है? कौन बलिष्ठ है? कौन बड़ा है और कौन छोटा? इस जगत् में सब वस्तुएँ अद्भुत भाव से परस्परावलम्बी हैं। यहाँ छोटे से छोटा परमाणु भी सम्पूर्ण विश्व के अस्तित्व के लिए आवश्यक है, फिर किसे हम ऊँचा कह सकते हैं और किसे नीचा? यह अन्वेषण के परे है। और क्योंकर? इसलिए कि न कोई बड़ा है और न छोटा। प्रत्येक वस्तु में वह अनन्त सत्तारूपी समुद्र ओतप्रोत है। वही अनन्त उनका सत्य स्वरूप है। और जो कुछ धरातल पर विद्यमान है, वह भी अनन्त ही है। वृक्ष अनन्त है और इसी तरह प्रत्येक वस्तु जो तुम देखते या छूते हो अनन्त है। रेत का प्रत्येक कण, प्रत्येक विचार, प्रत्येक जीव, प्रत्येक विद्यमान वस्तु अनन्त है। जो सान्त है वही अनन्त है और जो अनन्त है वही सान्त है। यही है हमारी सत्ता का स्वरूप।

अब यह सब सच हो सकता है, लेकिन अनन्त की यह प्रतीति वर्तमान अवस्था में हमें केवल अज्ञातवश (Unconsciously) ही होती है। यह बात नहीं है कि हम अपना अनन्त स्वरूप भूल गये हैं। हम अपना अनन्तत्व भूल नहीं सकते। ऐसा कौन सोच सकता है कि उसका सम्पूर्ण रूप से नाश हो जायेगा? कौन सोच सकता है कि वह मर जायेगा। ऐसा कोई नहीं सोच सकता। अनन्त से हमारा जो सम्बन्ध है वह हमें अज्ञात है। इसलिए एक प्रकार से हम अपने सच्चे स्वरूप को भूल जाते हैं। और इसीलिए है यह सारा दुःख।

प्रतिदिन के व्यवहार में छोटी छोटी बातें हमें चोट पहुँचाती हैं, छोटे छोटे जीव हमको दास बनाये हैं। हम दुःखी इसीलिए होते हैं कि हम समझते हैं हम सान्त हैं, हम क्षुद्र जीव हैं। परन्तु फिर भी यह विश्वास होना कि हम अनन्त हैं कितना कठिन है। दुःख और शोक के बीच जब एक छोटी सी वस्तु मेरे मन को क्षुब्ध कर देती है तो मेरा यह कर्तव्य है कि मैं विश्वास करूँ कि मैं अनन्त हूँ, और सत्य तो यही है कि हम अनन्त हैं। और चाहे जानते हुए चाहे अनजाने हम उसी अज्ञेय के अन्वेषण में लगे हैं, जो अनन्त है। हम सदा उसकी खोज में हैं, जो स्वतंत्र है।

आज तक कभी ऐसी जाति पैदा ही नहीं हुई जिसने किसी प्रकार के धर्म का अंगीकार न किया हो या ईश्वर अथवा देवताओं की पूजा न की हो। चाहे एक या अनेक ईश्वर विद्यमान हों या न हों, प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न तो है इस घटना के मानसशास्त्रीय पृथक्करण का। सारी दुनिया ईश्वर की खोज में—ईश्वर को ढूँढ़ निकालने में क्यों लगी है? कारण यह है कि यद्यपि हम इन पाशों से बँधे हैं, यद्यपि यह प्रकृति और उसके नियमों की भयंकर शक्ति हमें पीसे-सी डाल रही है और हमें करवट तक बदलने नहीं देती, यद्यपि हम जहाँ चाहे जावें और जो चाहे करने की इच्छा करें यह नियामक शक्ति जो सर्वत्र विद्यमान है, हमें अड़ाती ही रहती है तो भी जीव अपने स्वतंत्र स्वरूप को कभी नहीं भूलता और सर्वदा उसकी खोज में लगा रहता है। दुनिया के सब धर्मों की खोज

एक ही है और वह है स्वातंत्र्य की खोज; चाहे यह हम जानें या न जानें, चाहे इसे हम अच्छी तरह समझ सकें या न समझ सकें, यह तो सत्य है ही। क्षुद्रतम मनुष्य, मूर्ख से मूर्ख जीव इसी चेष्टा में लगा हुआ है कि वह ऐसी शक्ति पावे जो निसर्ग-नियमों पर भी हुकूमत चलाती है। राक्षस, भूत, ईश्वर अथवा अन्य किसी ऐसी ही वस्तु का वह दर्शन करना चाहता है, जो निसर्ग को अपने अधीन कर लेगी, जिसके लिए निसर्ग सर्वशक्तिमान नहीं है और जिसका कोई दूसरा नियामक नहीं है। "ऐसे किसी की चाह है जो नियम तोड़ सकता है!"—मनुष्य के हृदय से यही आवाज़ निकल रही है। हम सदा इसी खोज में हैं कि ऐसा कोई मिल जावे जो नियम को तोड़ सके। लोहमार्ग पर दौड़ते हुए तेज़ एंजिन को देख, राह में रेंगने वाला कीड़ा दूर हट जाता है। हम एकदम कह उठते हैं, "एंजिन तो निर्जीव वस्तु है, एक यंत्र है, लेकिन कीड़ा सजीव है" —इसलिए कि कीड़े ने कायदा तोड़ने का प्रयत्न किया। इतनी शक्ति और सामर्थ्य विद्यमान होने पर भी एंजिन कायदा नहीं तोड़ सकता। जैसा मनुष्य चाहता है उसी दिशा में एंजिन को जाना पड़ता है। अन्यत्र वह नहीं जा सकता। कीड़ा यद्यपि छोटा था तो भी उसने नियम तोड़ने का और आपत्ति से बचने का प्रयत्न किया। नियामक शक्ति पर अपना अधिकार चलाने की उसने चेष्टा की। उसने अपना स्वातंत्र्य जतलाने का प्रयत्न किया और उस कीड़े में भविष्य में परमेश्वर से एकरूप होने का यह लक्षण विद्यमान था।

यह अपनी हुकूमत जताने की चेष्टा, यह आत्मा का स्वातंत्र्य हर जगह प्रकट होता है। प्रत्येक धर्म में एक या अनेक ईश्वर के स्वरूप में यह प्रकट होता है। लेकिन परमेश्वर को जो अपने बाहर ही देखते हैं उनके लिए यह स्वातंत्र्य केवल बहिःस्थित वस्तु है। मनुष्य ने स्वयं ही निश्चय कर लिया कि वह बिलकुल नगण्य है। उसे यह डर था कि वह कभी स्वतंत्र नहीं हो सकता। इसलिए वह ऐसे किसी की खोज में घूमने लगा जो स्वाधीन तथा प्रकृति के अतीत है। फिर उसने सोचा कि ऐसे स्वतंत्र देवता अनेक हैं और धीरे धीरे उसने देवताओं के देव और सब शासकों के एक शासक में उन सबको लीन कर दिया। इस पर भी उसे समाधान न हुआ। कालान्तर से सत्य के कुछ थोड़ा करीब वह आया। और फिर उसे मालूम हुआ कि वह चाहे जो कुछ हो किसी न किसी तरह उसका उस ईश्वरों के ईश्वर से और शासकों के शासक से कुछ सम्बन्ध है। वह जो अपने को मर्यादित, नीच तथा दुर्बल समझता था उसी परमेश्वर से किसी न किसी तरह सम्बद्ध है। उसे दिव्य दर्शन होने लगे, विचार उठने लगे और ज्ञान की वृद्धि होने लगी। वह उस परमेश्वर के निकट आने लगा। अन्त में उसे पता चला कि ईश्वर तथा अन्य सब देवता एवं सर्वशक्तिमान स्वाधीन पुरुष की प्राप्ति की साधना में अनुभूत होनेवाली मन की विभिन्न अवस्थाएँ—ये सब अपने ही स्वरूप के सम्बन्ध में क्रमशः विकसित कल्पनाओं का प्रतिबिम्ब मात्र है। तत्पश्चात् उसने सिर्फ़ इतना ही सत्य नहीं जाना कि "मनुष्य ईश्वरनिर्मित एवं उसी की

प्रतिमूर्ति है" (God made man after his own image), बल्कि उसने यह भी सत्य जाना कि ईश्वर मनुष्यनिर्मित एवं उसी की प्रतिमूर्ति है। (Man made God after his own image)। मुक्ति की कल्पना इस प्रकार प्रकट हुई। परमेश्वर सर्वदा अपने अंतरंग में नज़दीक से नज़दीक विराजमान था। और फिर भी हम उसकी खोज बाहर ही किये जा रहे थे। अन्त में उसे अपने हृदय की गुहा में ही विराजमान पाया। तुमने उस मनुष्य की कथा सुनी होगी जिसने अपने हृदय की धड़कन को ही ग़लती से ऐसा समझा था कि कोई दूसरा बाहर से खटखटाता है, इसलिए वह उठा और उसने दरवाज़ा खोला तो देखा कि कोई न था। वह वापस लौट आया। फिर से वही दरवाज़ा खटखटाने की आवाज़ आती हुई मालूम हुई। लेकिन दरवाज़े पर कोई न था। तब वह समझा कि यह दरवाज़े की खटखटाहट न थी, यह थी उसके निजी हृदय की धड़कन। उसी तरह अपनी खोज के बाद मनुष्य ने यही देखा कि वह असीम स्वातंत्र्य, जिसे अपनी कल्पनाशक्ति द्वारा वह अपने से बाहर प्रकृति में प्रस्थापित कर रहा था, वास्तव में अन्तस्थ विषय था, उसकी स्वयं की आत्मा ही थी। वह स्वयं ही यह सत्य था। अन्त में इस अद्भुत द्वैत का रहस्य उसकी समझ में आया अर्थात् यह एक ही द्रष्टा अनन्त है और सान्त भी। वही अनन्त पुरुष यह सान्त जीव भी है। वही बुद्धि की पाश में पकड़ा गया हुआ-सा प्रतीत होता है और मर्यादित जीव के स्वरूप में प्रकट-सा होता है। परन्तु उसका वास्तविक स्वरूप अविकृत ही रहता है।

इसलिए प्रकृत ज्ञान यही है कि सब जीवात्माओं की आत्मा यह अन्तर्यामी भगवान् ही वह सत्य है जो अविकार्य है, शाश्वत आनंदस्वरूप तथा नित्यमुक्त है। यही एक अचल पद है, जिसके आधार पर हम खड़े रह सकते हैं।

तो फिर यही मृत्यु का अन्त, अमरत्व का आरम्भ तथा दुःख की निवृत्ति है। और जो मानव अनेकों में उसी एक का अस्तित्व देखता है—उस एक का जो सिर्फ इस विकारशील जगत् में अविकार्य है, और उसे अपनी आत्मा की भी आत्मा के रूप में पहचानता है उसे ही शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है—दूसरे को नहीं।

दुःख और अधःपतन के बीच मानों आत्मा अपनी एक किरण भेज देती है और मनुष्य जग उठता है और जान लेता है कि जो कुछ असल में उसका है उसे वह कभी खो नहीं सकता। हाँ, जो कुछ हमारा है उसे हम कभी नहीं खो सकते। कौन अपना अस्तित्व खो सकता है? अपनी प्रत्यक्ष सत्ता कौन खो सकता है? मैं असल में केवल अस्तित्वस्वरूप ही हूँ और बाद में उस पर सद्गुण का रंग चढ़ जाता है और फिर मैं 'अच्छा' कहलाता हूँ। ऐसा ही बुराई के सम्बन्ध में भी है। आदि, मध्य और अन्त में केवल अस्तित्व ही विद्यमान है, वह कभी नहीं खोता।

इसीलिए मुक्ति की सब को आशा है। कोई मर नहीं सकता। सदा के लिए कोई पतित नहीं रह सकता। जीवन यह एक खेल का मैदान है, जहाँ खेल खेला ही जाना चाहिए वह खेल चाहे जितना ही

जंगली क्यों न हो। हम पर चाहे जितने ही घूंसे पड़ें, हमें चाहे जितने ही धक्के लगें लेकिन नित्य वर्तमान आत्मा को कभी कोई चोट नहीं पहुँच सकती। हम वही अनन्त आत्मा हैं।

एक वेदान्ती इस तरह गाता था।—

"मुझे कभी न संशय था न डर। मृत्यु मुझे कभी न छू पाई, मेरे माता-पिता कहाँ? मैं तो अजन्मा हूँ। मैं ही सब हूँ; फिर मेरा शत्रु कौन? मैं सच्चिदानंदस्वरूप हूँ; 'सोऽहम्'; काम, क्रोध, ईर्ष्या, कुविचार आदि ने मुझे कभी स्पर्श नहीं किया, क्योंकि मैं तो सच्चिदानंदस्वरूप हूँ। 'सोऽहम्' 'सोऽहम्'।"

सब दुःखों पर यही एक अमोघ उपाय है। यही वह अमृत है जो मृत्यु को जीत लेता है। यह देखो हम यहाँ दुनिया में विद्यमान हैं और हमारा स्वभाव उसके विरुद्ध लड़ाई पुकार रहा है। लेकिन चलो हम गायें—

"सोऽहम् सोऽहम्। मुझे न भय है, न संशय, न मृत्यु; मैं जाति-लिंग-वर्ण सबके अतीत हूँ। कौनसा सम्प्रदाय मुझे बाँध सकता है? कौनसा पंथ मुझे अपना सकता है? सब पंथों में मैं ही अनुस्यूत हूँ।"

शरीर चाहे जितना ही विरोध करे, मन लड़ने के लिए चाहे जितना ही उठ खड़ा हो, इस घन अंधकार में इस जलाती हुई यंत्रणा में, इस घोरतम नैराश्य में, एक बार, दो बार, तीन बार,

सर्वदा यही गाओ। आहिस्ता और आराम से लेकिन निश्चय से प्रकाश आवेगा।

अनेकों बार मैं मृत्युमुख में पड़ा हूँ, क्षुधातुर रहा हूँ, पैर फटे हैं और थकावट आई है। लगातार कई दिनों तक मुझे अन्न नहीं मिला और अक्सर मैं एक पग भी न चल सकता था। मैं पेड़ के नीचे बैठ जाता और ऐसा मालूम होता था कि अब प्राण निकले। बोलना मुझे कठिन हो जाता था और मैं विचार तक न कर सकता था। अन्त में मेरा मन इस विचार पर लौट आया, "मुझे डर कहाँ? मैं कैसे मर सकता हूँ? मुझे न कभी भूख लगती है और न प्यास। मैं तो वही हूँ। सोऽहम्। यह सम्पूर्ण विश्व मुझे कुचल नहीं सकता। यह तो मेरा दास है। ऐ शासकों के शासक और ईश्वरों के ईश्वर, तू अपनी हुकूमत चला और गुमा हुआ साम्राज्य फिर से प्राप्त कर, उठ खड़ा हो, चल और बीच में ठहरना मत।" ऐसा विचार लौट आने पर मैं नवचैतन्य पा उठ खड़ा होता था और यह देखो तुम लोगों के सामने जीता-जागता हूँ। इस तरह जब जब अंधकार का आक्रमण हो तो अपनी आत्मा की हुकूमत चलाओ, और जो जो कुछ प्रतिकूल है नष्ट हो जावेगा, क्योंकि आखिर यह सब स्वप्न है। आपत्तियाँ पर्वत जैसी भले ही दिखें, चाहे सब जगह अंधेरा दिखे लेकिन यह सब माया है। डरो मत, यह भाग जाएगी, इसे कुचलो और यह लुप्त हो जाती है। इसे ठुकराओ और वह मर जाती है। डरो मत; कितने बार अपयश मिलेगा यह मत सोचो। चिन्ता न

करो। काल अनन्त है। आगे बढ़ो, पुनः पुनः हुकूमत चलाओ। प्रकाश अवश्य ही आएगा। चाहे किसी की भी तुम प्रार्थना करो लेकिन कौन तुम्हें आकर मदद देगा? जिस मृत्यु से किसी ने छुटकारा न पाया उस मृत्यु के बारे में आप क्या कहेंगे?

स्वयं ही अपना उद्धार करो। भाई, दूसरा कोई तुम्हें मदद न पहुँचावेगा, क्योंकि तुम स्वयं ही अपने सब से बड़े शत्रु हो और तुम स्वयं ही अपने सब से बड़े मित्र। तो फिर आत्मा का आश्रय लो। उठ खड़े हो, डरो मत। दुःख और दुर्बलता के अंधकार के बीच आत्मा को प्रकाशित होने दो, चाहे वह प्रकाश आरम्भ में अस्पष्ट और फीका हो, तुम्हें धैर्य आता जावेगा और अन्त में तुम सिंह के समान गरज उठोगे "मैं वह हूँ, मैं वह हूँ।"

"मैं न नर हूँ, न नारी, न देव, न दानव। मैं पशु, वृक्ष, पौधा आदि कुछ भी नहीं हूँ। न मैं धनिक हूँ, न दरिद्री; न विद्वान्, न मूर्ख। मेरे वास्तविक स्वरूप की तुलना में ये सब बिलकुल क्षुद्र हैं, क्योंकि मैं ही हूँ वह परमात्मा। 'सोऽहम् सोऽहम्'। सूर्य, चन्द्र तथा तारों की ओर देखो, मैं ही उनमें प्रकाशित हो रहा हूँ। अग्नि की प्रभा तथा विश्व में खेलने वाली शक्ति भी मैं ही हूँ, क्योंकि मैं ही वह परमात्मा हूँ।"

"जो कोई यह सोचता है कि मैं क्षुद्र हूँ, गलती कर रहा है, क्योंकि सत्ता केवल एक आत्मा की ही है। सूर्य का अस्तित्व इसलिए है कि मैं कहता हूँ सूर्य है, और जब मैं उद्घोषित करता हूँ कि

दुनिया विद्यमान है तभी उसे अस्तित्व प्राप्त होता है। मेरे सिवाय वे नहीं रह सकते, क्योंकि मैं सत् चित् और आनंद हूँ। मैं सदा सुखी हूँ, मैं सदा शुचि हूँ, मैं सदा सुहावना हूँ। ध्यान दो। सूर्य के कारण ही से प्राणिमात्र देख सकते हैं, लेकिन किसी की भी आँख के दोष का उस पर कोई परिणाम नहीं होता। मैं भी इसी तरह हूँ। शरीर की सब इन्द्रियों द्वारा मैं काम करता हूँ, प्रत्येक वस्तु द्वारा मैं काम कर रहा हूँ, लेकिन काम के भले बुरे गुण का परिणाम मुझ पर नहीं होता। मेरा कोई नियामक नहीं है और न कोई कर्म। मैं ही कर्मों का नियामक हूँ। मैं तो सदा वर्तमान था और अभी भी हूँ।

"भौतिक वस्तुओं में मेरा सच्चा सुख कभी न था, न तो पति में, न पत्नी में, न पुत्रों में और न अन्य किसी वस्तु में। मैं तो अनन्त नील आकाश के समान हूँ। अनेक वर्ण के मेघ उस पर हो गुजरते हैं और कुछ क्षण क्रीड़ा कर जाते हैं। वे निकल जाते हैं और विकारहीन वह नील आकाश वहाँ वैसा ही रह जाता है। सुख और दुःख, अच्छा और बुरा मुझे एक क्षण के लिए ढाँक लें, फिर भी वहाँ मेरा अस्तित्व है। वे इसलिए निकल जाते हैं कि वे बदलने वाले ही हैं। मैं इसलिए रह जाता हूँ कि मैं स्वभावतः विकारहीन हूँ। अगर दुःख आता है तो मैं जानता हूँ कि वह मर्यादित है। उसका अन्त अवश्य होगा। अगर बुराई आती है तो मैं जानता हूँ कि वह मर्यादित है। उसे निकल जाना होगा। मैं ही सिर्फ अनन्त हूँ और

किसीका मुझे सम्पर्क नहीं लग सकता, क्योंकि मैं अकेला ही तो अनन्त हूँ, शाश्वत हूँ, विकारहीन हूँ।"—हमारे एक कवि ने इस तरह गाया है।

आओ, हम इस प्याली का पेय पियें—यह प्याली जो प्रत्येक अमर वस्तु की ओर यानी जो विकारहीन है हमें ले जाती है। डरो मत, ऐसा मत सोचो कि हममें बुराई है, हम सान्त हैं या हम कभी मर सकते हैं। यह सच नहीं है। इसलिए इस आत्मा के सम्बन्ध में पहले श्रवण करना चाहिए, फिर मनन और उसके उपरान्त उसका निदिध्यासन। जब हाथ काम करते रहें, मन को कहना चाहिए, 'सोऽहं, सोऽहम्।' सोचो तो यही सोचो, स्वप्न देखो तो इसी का, यहाँ तक कि यह तुम्हारी हड्डियों की हड्डी और गोश्त का गोश्त बन जावे, यहाँ तक कि क्षुद्रता के, दुर्बलता के, दुःखों के और बुराइयों के सब भयानक स्वप्न बिलकुल गायब हो जावें। इसके बाद एक क्षण के लिए भी सत्य तुमसे छिपा न रहेगा।

---

६. भक्ति

(भक्तियोग)

कुछ थोड़े से धर्मों को छोड़कर प्रत्येक धर्म में सगुण परमेश्वर की कल्पना ने अधिष्ठान पा लिया है। शायद जैन और बौद्धों को छोड़ प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय ने सगुण परमेश्वर की कल्पना स्वीकार की है और उस कल्पना के साथ भक्ति और उपासना की कल्पना का उद्गम हुआ है। यद्यपि बौद्ध और जैन सगुण परमेश्वर को नहीं मानते तथापि वे अपने धर्मसंस्थापकों की ठीक वैसी ही पूजा करते हैं जिस तरह इतर धर्मोपासक सगुण परमेश्वर की। किसी एक ऐसे उन्नततर व्यक्ति की पूजा और उपासना जो मनुष्य को उसके प्रेम का बदला प्रेम से दे सके, सर्वत्र दिखाई देती है। विभिन्न धर्मों में यह प्रेम और भक्ति भिन्न भिन्न अवस्थाओं में विभिन्न परिमाण से प्रकट होती आई है। सब से पहली अवस्था है 'केवल कर्म'; इस अवस्था में सूक्ष्म कल्पनाओं की धारणा ही क़रीब क़रीब असम्भव है। इसलिए वे निम्नतम भूमिका पर लाई जाकर फिर स्थूल रूप में परिणत की जाती है। फलतः मनुष्य अनेक प्रकार की प्रतिमा; मानने लगा और उसके साथ अनेक प्रतीकों का [illegible], ग्रंथ, सम्पूर्ण विश्व का इतिहास यही दिखलावेगा कि इन [illegible] बहुत अच्छे हैं प्रतीकों द्वारा ही मनुष्य ने निर्गुण का ग्रहण क्योंगी हैं; लेकिन इनका

है। घंटियाँ, संगीत, पोथी, मंत्र-तंत्र, मूर्तियाँ और धर्म के अन्यान्य बाह्य अनुष्ठान ये सब इस श्रेणी में समाविष्ट होते हैं। मनुष्य की इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होने योग्य कोई भी वस्तु तथा निर्गुण की कल्पना सुगमता से करा देने वाली कोई भी स्थूल आकृति इस काल में पूजा का विषय बन जाती है।

प्रत्येक धर्म में सदा ही ऐसे धर्मोपदेशक जन्म लेते आये हैं, जिन्होंने प्रतीकों और बाह्य अनुष्ठानों के विरुद्ध कमर कसी है। लेकिन उनका यह प्रतिकार फ़िज़ूल हुआ है, क्योंकि मनुष्य जब तक मनुष्य है, बहुजन समाज ऐसा कोई दृश्य प्रतीक अवश्य ही चाहेगा जिसका वह आश्रय ले सके, जिसको केन्द्र मान उसके आसपास अपने मन के विचारों को गूँथ सके।

मुसलमानों और प्रॉटेस्टेन्ट पंथ के ईसाइयों ने बाह्य विधि के उच्चाटन की ओर अपनी शक्ति ख़र्च की है तिस पर भी स्वयं उन पंथों में वह घुस पड़ी है। बाह्य विधि नष्ट नहीं हो सकती। बहुत प्रयास के बाद बहुजन समाज दूसरे प्रतीक को स्वीकार करने के लिए ही पहिले प्रतीक का त्याग करता है। वही मुसलमान जो काफ़िर के बाह्य अनुष्ठान, प्रतीक, मूर्ति, या पूजा-प्रकार को पाप ... मता है जब स्वयं काबे की मसजिद को आता है तो इस तरह ...ता।

...शील मुसलमान प्रार्थना करे तो यह आवश्यक ... काबे में खड़ा हुआ समझे। जब वही मुसलमान

हज को जाता है तो मसजिद की दीवार में लगा हुआ काला पत्थर उसे चूमना होता है। क़यामत के दिन इस पत्थर पर छपे हुए ये करोड़ों चुम्बन उठ खड़े होंगे और जो विश्वास करता है उसके अनुकूल उस दिन गवाही देंगे। काबे में झमझम नामक कुँआ है। मुसलमानों का विश्वास है कि अगर कोई इस कुँए का थोड़ा भी पानी निकाल पावे तो सम्पूर्ण पापों की उसे क्षमा दे दी जावेगी और न्यायदान के दिन उसे दूसरा शरीर प्राप्त होगा तथा वह चिरकाल ज़िन्दा रहेगा।

दूसरे धर्मों में प्रतीकोपासना इमारतों के स्वरूप में प्रकट होती है। प्रॉटेस्टेन्ट पंथ वाले ऐसा समझते हैं कि गिरजाघर अन्य स्थानों से अधिक पवित्र होता है। गिरजाघर ही मानों स्वयं प्रतीक है। या 'पवित्र पुस्तक' की बात लो। 'पुस्तक' की कल्पना उन्हें किसी भी अन्य प्रतीक से अधिक पवित्र है। इसलिए प्रतीकोपासना के विरुद्ध उपदेश देना व्यर्थ है। और फिर प्रतीकों के विरुद्ध उपदेश ही हमें क्योंकर देना चाहिए? मनुष्य उन्हें इसलिए अमल में लाता है कि वे कुछ लक्षित भावों के संकेतस्वरूप होते हैं। यह सम्पूर्ण विश्व ही विश्वातीत सद्वस्तु का एक विशाल प्रतीक है। इस प्रतीक द्वारा हम उसे ही ग्रहण करने का यत्न कर रहे हैं। ध्येय है आत्मा, न कि जड़ वस्तुएँ। इसलिए मूर्तियाँ, घंटियाँ, मोमबत्तियाँ, ग्रंथ, गिरजाघर, मंदिर और अन्यान्य पवित्र प्रतीक ये बहुत अच्छे हैं और अध्यात्म वृक्ष की बाढ़ के लिए बहुत उपयोगी हैं; लेकिन इनका

केवल यही उपयोग है, इससे अधिक नहीं। बहुजन समाज के विषय में यही दीख पड़ता है कि इस पौधे की बाढ़ ही नहीं होती। गिरजाघर में जन्म लेना यह भाग्य है लेकिन उसी गिरजा में मरण आना यह है दुर्दैव। अध्यात्म वृक्ष की बाढ़ में मदद पहुँचाने वाले उपासना-प्रकारों में जन्म लेना अच्छा है लेकिन मनुष्य को इन उपासनाओं की मर्यादा में ही मरण आवे तो यह साफ़ दिख जावेगा कि उसका विकास नहीं हुआ, उसकी आध्यात्मिक उन्नति नहीं हुई।

इसलिए अगर कोई कहे कि प्रतीकों को तथा बाह्य अनुष्ठानों की सदा ही आवश्यकता है तो यह गलत है। लेकिन अगर वह कहे कि मन के अविकसित काल में आत्मोन्नति के लिए ये बातें आवश्यक हैं तो सच है। लेकिन यह आत्मोन्नति कोई बौद्धिक विकास है ऐसी भ्रमपूर्ण धारणा न कर लेनी चाहिए। एक मनुष्य चाहे असाधारण बुद्धिमान हो, परन्तु फिर भी सम्भव है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में वह अभी बच्चा ही हो। किसी भी क्षण तुम इसकी परीक्षा ले सकते हो। तुममें से प्रत्येक व्यक्ति ने सर्वव्यापी परमेश्वर में विश्वास करना सीखा है। वही सोचने की कोशिश करो। तुममें से कितने थोड़े इस बात की सिर्फ़ कल्पना मात्र कर सकते हैं। अगर तुम कसकर कोशिश करो तो तुम्हें समुद्र की, आकाश की, विस्तृत हरियाली की या मरुभूमि की ही कल्पना आवेगी। लेकिन ये सब स्थूल आकृतियाँ हैं और जब तक तुम

सूक्ष्म की कल्पना सूक्ष्म रूप से ही नहीं कर सकते और जब तक निराकार, निराकार के स्वरूप में ही तुम्हें अवगत नहीं होता तब तक तुम्हें इन आकृतियों का, इन स्थूल मूर्तियों का आश्रय लेना ही होगा। ये आकृतियाँ चाहे मन के अन्दर हों, चाहे मन के बाहर, इस से कुछ फर्क नहीं होता। हम सब जन्म से ही मूर्ति-पूजक हैं। और मूर्ति-पूजा अच्छी है, क्योंकि यह मनुष्य के लिए अत्यन्त स्वाभाविक है। इस उपासना के परे कौन जा सकता है? सिर्फ वही जो सिद्ध पुरुष है, जो अवतारी पुरुष है। बाकी सब मूर्ति-पूजक ही हैं। जब तक यह विश्व और उसमें की मूर्त वस्तुएँ हमारी आँखों के सामने खड़ी हैं तब तक हममें से प्रत्येक मूर्ति-पूजक है। स्वयं यह विश्व ही एक विशाल प्रतीक है जिसकी हम पूजा कर रहे हैं। जो कहता है कि मैं शरीर हूँ वह जन्म से ही मूर्तिपूजक है। हम हैं आत्मा—वह आत्मा जिसका न आकार है और न रूप, वह आत्मा जो अनन्त है और जिसमें जड़त्व का अभाव है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य मूर्तिपूजक है। जो निर्गुण की कल्पना भी नहीं कर सकते और जो स्वयं अपनी कल्पना भी जड़ वस्तुओं द्वारा, उदाहरणार्थ, शरीर का आधार लिये बिना नहीं कर सकते वे लोग भी एक दूसरे को "तू मूर्तिपूजक है" ऐसा कहकर दोष देते हैं और कैसे लड़ते हैं! अर्थात् प्रत्येक कहता है कि मेरी ही मूर्ति सच्ची है और दूसरों की नहीं!

इसलिए इन बालक जैसी कल्पनाओं का हमें त्याग कर देना चाहिए। हमें उन मनुष्यों की बकवाद से परे जाना चाहिए जो

समझते है कि सारा धर्म शब्दजाल में ही समाया है अथवा विभिन्न मतों में, जिनके लिए धर्म केवल बुद्धि की सम्मति या विरोध ही है, जो धर्म का अर्थ सिर्फ पुरोहितों द्वारा बतलाये हुए शब्दों में विश्वास करना ही समझते हैं, जो धर्म को कोई ऐसी वस्तु समझते हैं जो उनके बाप-दादाओं के विश्वास का विषय था, जिनके लिए विशिष्ट कल्पनाएँ और अन्ध विश्वास ही धर्म है और जो उसी को पकड़े रहते हैं—सिर्फ इसीलिए कि यह अन्धविश्वास उनके समस्त राष्ट्र का है। हमें इन कल्पनाओं का त्याग करना चाहिए। अखिल मानव समाज को हमें एक ऐसा विशाल व्यक्ति समझना चाहिए जो धीरे धीरे उजाले की ओर बढ़ रहा है, अथवा वह आश्चर्यजनक पौधा समझना चाहिए जिसमें से ऐसा अद्भुत सत्य खिल उठेगा जिसको हम परमेश्वर कहते हैं। और इस ओर की पहिली हलचल, पहिली प्रक्रिया सदा बाह्य अनुष्ठानों तथा स्थूल मूर्तियों द्वारा ही होती है।

इन बाह्य अनुष्ठानों में एक कल्पना मुख्यतः दिखेगी जो दूसरी सब कल्पनाओं में श्रेष्ठ है। वह है नाम की उपासना। तुम में से जिन लोगों ने पुराने ईसाई धर्म का अभ्यास किया है, या तुम लोगों में से जिन्होंने दूसरे धर्मों का अध्ययन किया है उन्होंने शायद कहा है कि सब धर्मों के अन्तर्गत एक ही कल्पना है और वह है नाम की उपासना। ऐसा कहा जाता है कि नाम अत्यन्त पवित्र है। ईश्वर का पवित्र नाम सब नामों से और सब

पवित्र वस्तुओं से पवित्रतर है ऐसा हमने बाइबल में पढ़ा है। ईश्वर का नाम सब नामों में पवित्र माना गया है और ऐसा समझा गया है कि यह पवित्र नाम ही परमेश्वर है और यह सत्य है, क्योंकि यह विश्व नाम और रूप के अतिरिक्त और है ही क्या? क्या शब्दों के सिवाय तुम सोच सकते हो? शब्द और विचार एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। तुममें से कोई उनको अलग कर सकता हो तो प्रयत्न कर देखो। जब भी तुम सोचते हो तो शब्द रूपी आकृतियों द्वारा ही; एक के साथ दूसरा आता ही है। नाम रूप की याद दिलाता है और रूप से नाम का स्मरण होता है। यह सम्पूर्ण विश्व मानो परमेश्वर का स्थूल प्रतीक है। और उसके पीछे ही है परमेश्वर का महिमान्वित नाम। प्रत्येक शरीर है रूप और उसके पीछे रहता है उसका नाम। ज्योंही तुम अपने किसी दोस्त के नाम की याद करते हो, उसकी आकृति तुम्हारे सामने खड़ी हो जाती है; और ज्योंही तुम उसके शरीर की आकृति मन में लाते हो उसका नाम तुम्हें याद आ जाता है। यह मनुष्य का सहज स्वभाव है। अन्य शब्दों में, मानसशास्त्र की दृष्टि से मनुष्य के चित्त में रूप के बोध के सिवाय नाम का बोध नहीं हो सकता और न नाम के बोध के सिवाय रूप का। वे दोनों अलग नहीं किये जा सकते। एक ही लहर के वे बाहरी और भीतरी अंग हैं। इसीलिए नाम का इतना माहात्म्य है और दुनिया में वह सब जगह पूजा जाता है; चाहे जान में चाहे अनजान में, लेकिन मनुष्य को नाम की महिमा मालूम हुई।

हम यह भी देखते हैं कि भिन्न भिन्न धर्मों में पवित्र पुरुषों की पूजा चली आ रही है। कोई कृष्ण की पूजा करता है तो कोई ईसा मसीह की। कोई बुद्ध को पूजता है तो कोई अन्य विभूतियों को। इसी तरह लोग साधुओं की पूजा करते आ रहे हैं। सैकड़ों साधु दुनिया में आज पूजे जा रहे है। और वे क्यों न पूजे जाने चाहिये? प्रकाश की लहर सर्वत्र विद्यमान है। उल्लू उसे अंधेरे में देखता है, इसीसे स्पष्ट है कि वह वहाँ विद्यमान है। अब मनुष्य भले ही उसे न देख सके। मनुष्य को वह चमक सिर्फ दीपक में, सूर्य में, चन्द्रमा इत्यादि में ही दिखाई देती है। परमेश्वर सर्वत्र विद्यमान है। वह घट घट में प्रकट हो रहा है, लेकिन मनुष्य को वह मनुष्य में ही दृग्गोचर हो सकता है। जब उसकी ज्योति, उसका अस्तित्व, उसका ईश्वरत्व मानवी मुखमण्डल पर प्रकट होता है, तभी मनुष्य उसकी पहिचान कर सकता है। इस तरह मनुष्य, मानव रूप में परमेश्वर की पूजा करता आ रहा है और जब तक मनुष्य मनुष्य रहेगा, वह ऐसा करता ही जावेगा। वह भले ही ऐसी पूजा के विरुद्ध चिल्लाए, भले ही उसके प्रतिकूल प्रयत्न करे, लेकिन ज्योंही वह परमेश्वर-प्राप्ति का प्रयत्न करेगा उसे प्रतीत हो जावेगा कि स्वभावतः ही वह मानवी आकृति के अतिरिक्त परमेश्वर का विचार नहीं कर सकता। इसीलिए प्रत्येक धर्म में हम तीन मुख्य बातें देखते हैं जिनके द्वारा परमेश्वर की पूजा की जाती है। वे हैं प्रतिमाएँ या प्रतीक, नाम और अवतारी पुरुष। प्रत्येक धर्म में ये बातें हैं और फिर भी लोग एक

दूसरे से लड़ना चाहते हैं। एक कहता है, "अगर दुनिया में कोई प्रतिमा है तो मेरे धर्म की, कोई नाम है तो मेरे धर्म का और कोई अवतारी पुरुष है तो मेरे ही धर्म का। तुम्हारी सिर्फ पौराणिक कथाएँ हैं।" इन दिनों ईसाई पादरी कुछ नरम हो गये हैं। वे मानते हैं कि ख्रिस्त पूर्व पुराने धर्मों के विभिन्न पूजा-प्रकार ईसाई धर्म के आगमन की सूचना मात्र है, परन्तु फिर भी उनके मत से ईसाई धर्म ही सच्चा धर्म है। ईसाई धर्म उत्पन्न करने के पहले ईश्वर ने अपनी शक्तियाँ जाँच लीं; इन पूजापद्धतियों को निर्माणकर उसने अपने बलाबल को नापा और अन्त में उसने ईसाई धर्म की सृष्टि की। उनकी इतनी भी प्रगति कुछ कम नहीं है। पचास वर्ष पूर्व तो वे लोग यह भी कबूल करने को तैयार न थे। उनके धर्म को छोड़कर और अन्य कुछ भी सत्य न था। यह किसी धर्म का, किसी एक राष्ट्र का या किसी एक जाति का वैशिष्ट्य नहीं है। लोग हमेशा यही सोचते रहे हैं कि जो कुछ वे करते आये हैं वही सच है और अन्य लोगों को भी वैसा ही बरताव करना चाहिए। यह भ्रम दूर करने के लिए विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से हमें बहुत सहायता मिलेगी। इस अध्ययन से यह मालूम हो जाता है कि जिन विचारों को हम अपने, केवल अपने विचार कहते हैं वे सैकड़ों वर्ष पूर्व दूसरे लोगों के मनों में विद्यमान थे और वे भी कभी कभी हम प्रकट कर सकते हैं उससे कहीं अधिक अच्छे स्वरूप में विद्यमान थे।

ये तो उपासना के सिर्फ़ बाह्य अंग हैं जिनमें से होकर मनुष्य को गुज़रना होता है। लेकिन अगर मनुष्य सच्चा है, अगर वह सत्य को पहुँचना चाहता है तो वह इन बाह्य अंगों से ऊँचा उठ जाएगा और ऐसी भूमि पर पहुँच जाएगा जहाँ ये बाह्य अंग शून्यवत् हैं। मंदिर और गिरजा, पोथी और पूजा ये सिर्फ़ धर्म के प्राथमिक उपकरण मात्र हैं—जिन उपकरणों द्वारा धर्म-जगत् में का यह बालक बलवान बनता है और ऊँचा चढ़ सकता है। यदि उसकी इच्छा है कि उसकी धर्म में गति होवे तो ये पहली सीढ़ियाँ आवश्यक हैं। ईश्वरप्राप्ति की पिपासा उत्पन्न होने के साथ ही मनुष्य में सच्चा अनुराग, सच्ची भक्ति उत्पन्न हो जाती है। लेकिन ऐसी पिपासा है किसे?—प्रश्न तो यही है। धर्म न तो मतों में है, न पंथों में और न तार्किक विवाद में ही। धर्म से मतलब है ब्रह्मसत्ता, उससे एकरूप होना, प्रगत होते होते अन्त में प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना—आत्मानुभूति कर लेना। हम कितने ऐसे लोगों से मिलते हैं जो परमेश्वर के, आत्मा के और विश्व के गुप्त रहस्यों के बारे में बातें किया करते हैं। लेकिन एक एक लेकर अगर हम उनसे पूछें कि क्या तुमने परमेश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन किया है, क्या तुम्हें आत्मानुभव हुआ है, तो ऐसे कितने निकलेंगे जो जवाब दे सकेंगे 'हाँ'; और फिर भी लोग एक दूसरे से लड़ते चले आ रहे हैं! एक समय भारतवर्ष में विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी इकट्ठे हुए और आपस में लड़ने लगे। एक कहता था कि अगर कोई परमेश्वर है तो वह है

'शिव'। दूसरा कह
विवाद का कोई अन्त न था
विवादकों ने उसे पुकारा औ
मनुष्य शिव को सब में बड़ा ईश्व
पूछा, "क्या तुमने शिवजी को देखा है? क्य
हो? अगर नहीं तो तुम कैसे कहते हो कि वह स
फिर उसने विष्णुभक्त से पूछा, "क्या तुमने विष्णु
और इसी तरह उसने हरएक से यही सवाल किया। उसे य
दिखलाई दिया कि उनमें से किसी को परमेश्वर के विषय में कुछ भी न मालूम था। इसीलिए वे आपस में इतना लड़ रहे थे, क्योंकि अगर उन्हें सचमुच ही कुछ मालूम होता तो वे कभी न लड़ते। जब घड़ा पानी से भरा जाता है तो वह शब्द करता है, लेकिन जब पूरा भर जाता है तो आवाज़ निकलनी बंद हो जाती है। इसीलिए सम्प्रदायों की आपस की लड़ाई से ही यह बात सिद्ध है कि वे धर्म के बारे में कुछ नहीं जानते। उनके लिए धर्म तो केवल ग्रंथों में लिखने योग्य शब्दजाल मात्र है। प्रत्येक मनुष्य चटपट एक बड़ी पुस्तक लिखने बैठ जाता है, उसे जितनी मोटी हो सके बनाने की कोशिश करता है। जो किताब उसके हाथ लग जावे उसी में से चोरी कर लेता है और फिर कृतज्ञतापूर्वक कबूल तक नहीं करता! इस तरह फिर मौजूदा गड़बड़ को और अधिक बढ़ाने के लिए उस पुस्तक को ले दुनिया के सम्मुख अवतीर्ण हो जाता है!

.स बात का आनंद है
ार के नास्तिकों की जाति
.ा मतलब है जड़वादी। वे
.स्तकों से अच्छे हैं। ये धार्मिक
. हैं . धर्म के बारे में लड़ते हैं, बातें बनाते
नहीं चाहते, उसका प्रत्यक्ष अनुभव लेना नहीं
. उसे समझना ही चाहते हैं। ईसा मसीह के ये शब्द
.ग रहें, "तुम माँगो और वह तुम्हें दिया जाएगा; तुम ढूँढ़ो और तुम उसे पाओगे। तुम खटखटाओ और तुम्हारे लिए दरवाज़ा खुल जाएगा।" ये शब्द बिलकुल सत्य है। आलंकारिक या काल्पनिक नहीं हैं। परमेश्वर के एक सब से बड़े पुत्र के हृदय के खून में से वे बह निकले थे। वे ऐसे शब्द हैं जो स्वयं अनुभव करने के बाद निकले हैं। ऐसे व्यक्ति से निकले हैं जिसने परमेश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव किया है, जिसे उसका प्रत्यक्ष स्पर्श हुआ है। वह ऐसा मनुष्य था जिसने परमेश्वर के साथ वास किया था, उसके साथ बात-चीत की थी और वह भी साधारण रूप से नहीं, बल्कि जैसे हम एक साधारण इमारत आदि को देख सकते हैं उससे भी कई गुना प्रत्यक्ष रूप से। सवाल तो यह है कि परमेश्वर चाहता है कौन? क्या तुम ऐसा समझते हो कि दुनिया के ये सब लोग परमेश्वर चाहते हैं पर उसे पा नहीं सकते? यह असम्भव है। दुनिया में ऐसी कौनसी इच्छा है जिसका विषय बाहर दुनिया में विद्यमान नहीं

है। मनुष्य चाहता है कि वह सांस ले और वह देखता है कि उसके सांस लेने के लिए हवा विद्यमान है। मनुष्य खाने की इच्छा करता है और वह देखता है कि खाने के पदार्थ उसके सम्मुख विद्यमान हैं। इच्छाएँ क्योंकर उत्पन्न होती हैं? इसलिए कि उनके विषय बाहर विद्यमान हैं। प्रकाश विद्यमान था इसलिए आँखों ने जन्म लिया और शब्द विद्यमान था इसलिए उसने कानों को जन्म दिया। इस तरह मनुष्य की प्रत्येक इच्छा किसी न किसी बाह्य विद्यमान वस्तु के कारण ही उत्पन्न हुई है। तो फिर पूर्ण विकास की इच्छा, अन्तिम ध्येय पर पहुँचने की इच्छा तथा प्रकृति के परे जाने की इच्छा यह स्वयं क्योंकर उत्पन्न हो सकती है? ऐसी कोई बाह्य वस्तु होनी ही चाहिए जिसने इस इच्छा को मनुष्य के हृदय में पैदा किया है और उसके हृदय में उसका वास कराया है। इसलिए वह मनुष्य जिसमें यह इच्छा उत्पन्न हुई है अवश्य अपने ध्येय को पहुँच जावेगा। हम एक परमेश्वर को छोड़ बाकी सब वस्तुएँ चाहते हैं। तुम अपने आसपास जो कुछ देखते हो वह धर्म नहीं है। हमारी गृहस्वामिनी ने अपने घर के दालान में दुनिया की सब वस्तुएँ इकट्ठी कर रखी हैं और अब ऐसा फैशन चल निकलता है कि जापान की कोई न कोई चीज़ घर में अवश्य रहनी चाहिए। वह जापानी मिट्टी का बर्तन मोल ले आती है और उसे अपने कमरे में रख देती है। यह है बहुजन समाज का धर्म। उपभोग की प्रत्येक वस्तु वह जमा किये है और वह देखता है कि जब तक उसे

उस धर्म की सुगंध नहीं मिलती, ज़िन्दगी में मजा नहीं आता, क्योंकि अन्यथा समाज नुकताचीनी करेगा। समाज चाहता है कि मनुष्य किसी न किसी धर्म का अनुयायी हो और इसीलिए मनुष्य कोई न कोई धर्म चाहता है। यह है दुनिया के धर्मों की आज की हालत।

एक शिष्य अपने गुरु के पास गया और बोला, "महाराज, मैं धर्मलाभ करना चाहता हूँ।" गुरु ने उस जवान की ओर देखा, लेकिन चुप रहा। उसने सिर्फ़ मुस्करा दिया। वह तरुण प्रति दिन आता और धर्म जानने का आग्रह करता। लेकिन वह वृद्ध उस जवान से अधिक जानकार था। एक दिन जब बहुत धूप पड़ रही थी उसने उस शिष्य से अपने साथ चलने और नदी में डुबकी लगाने को कहा। ज्योंही उस तरुण ने डुबकी लगाई यह वृद्ध भी चटपट डूब गया और उसने उसे पकड़कर ज़बरदस्ती पानी में डुबाये रखा। कुछ क्षण छटपटाने देने के बाद उसने उसे छोड़ दिया। जब वह पानी के बाहर आया तो वृद्ध ने पूछा, "हे तरुण, जब तक पानी के अंदर थे क्या चाहते थे?" तरुण ने जवाब दिया, "एक सांस की हवा।" क्या तुम परमेश्वर को इतनी ही तीव्रता से चाहते हो? अगर तुम चाहते हो तो एक क्षण में पा जाओगे। लेकिन जब तक तुम्हें ऐसी प्यास नहीं लगती तुम अपनी बुद्धि द्वारा अथवा अपनी पुस्तकों और मूर्तियों द्वारा चाहे जितनी ही कोशिश करो तुम्हें वह न मिलेगा। जब तक तुममें यह प्यास

पैदा नहीं होती तुम नास्तिकों से किसी अंश में अच्छे नहीं हो। अन्तर यह है कि वे हृदय से नास्तिक हैं और तम वैसे भी नहीं हो।

एक बड़ा साधु अक्सर कहा करता था, "मान लो इस कमरे में चोर घुस गया है और किसी कारण से उसे पता चल गया कि पास वाले कमरे में बहुत सा सोना रखा हुआ है। दोनों कमरों को अलग करने वाला परदा भी बहुत कमज़ोर है। ऐसी अवस्था में वह चोर क्या करेगा? उसे नींद न आवेगी। वह खाना या दूसरा कोई काम करना भूल जावेगा। उसका सारा मन इस बात में ही लगा रहेगा कि सोना किस तरह हाथ लगे। क्या तुम ऐसा समझते हो कि यह निश्चित विश्वास होते हुए भी कि अपने ही पास सुख, आनंद एवं ऐश्वर्य की खान विद्यमान है, लोग ऐसा ही बर्ताव करते रहेंगे जैसा कि आज वे कर रहे हैं, और परमेश्वर-प्राप्ति का तनिक भी प्रयत्न न करेंगे? ज्योंही मनुष्य विश्वास करने लगता है कि परमेश्वर विद्यमान है वह उसे पाने के लिए पागल हो जाता है। लोग अपनी राह भले ही जावें लेकिन जब मनुष्य को यह विश्वास हो जाता है कि जैसी वह आज ज़िन्दगी बसर कर रहा है उससे कहीं ऊँची जिन्दगी बसर कर सकता है और ज्योंही उसे निश्चय से यह अनुभव होने लगता है कि इन्द्रियाँ ही सर्वस्व नहीं हैं, यह मर्यादित जड़ शरीर उस शाश्वत, चिरन्तन और अमर आत्मानंद के सामने कुछ नहीं है तो वह पागल बन जाता

है और उस आनंद को स्वयं ढूँढ़ निकालता है। यह वह पागलपन है, वह प्यास है, वह उन्माद है जिसका नाम है धर्म विषयक " जागृति " और जब वह जागृति हो जाती है तो मनुष्य धर्मप्रवण बनने लगता है। लेकिन यह बात बहुत समय लेती है। सब प्रकार के ये प्रतीक और विधियाँ, ये प्रार्थनाएँ और ये तीर्थ-यात्राएँ, ये ग्रंथ, ये घंटियाँ, ये मोमबत्तियाँ और ये पुरोहित पूर्व-तैयारी मात्र हैं। इनसे मन का मैल दूर हो जाता है और जब जीव शुद्ध हो जाता है तो स्वभावतः ही वह पवित्रता की खान की ओर जाना चाहता है, स्वयं परमेश्वर की ओर जाना चाहता है। शताब्दियों की धूल से सना लोहा जिस तरह लोहचुंबक के पास भले ही पड़ा रहे लेकिन वह लोहचुंबक की ओर नहीं खिंचता, पर जिस तरह उसकी धूल साफ़ हो जाने के बाद वही लोहा चुंबक की ओर स्वयं खिंचने लगता है उसी तरह यह जीव युगानुयुग की धूल से, अपवित्रता से, दुष्टता से, पापों से सना हुआ होने के कारण जब अनेक जन्म लेकर इन उपासनाओं और विधियों द्वारा शुद्ध हो जाता है, दूसरों की भलाई करने लगता है, दूसरे जीवों से प्यार करने लगता है तब उसका स्वाभाविक आध्यात्मिक आकर्षण जागृत हो जाता है, वह जाग उठता है और परमेश्वर की ओर जाने का यत्न करने लगता है।

तिस पर भी ये विधियाँ और ये प्रतीक आरम्भ मात्र के लिए उपयुक्त हैं, यह ईश्वर की सच्ची भक्ति नहीं है। हर जगह हम

प्यार के बारे में सुनते आये हैं। प्रत्येक व्यक्ति कहता है कि ईश्वर से प्यार करो। मनुष्य यह नहीं जानता कि प्यार कैसे किया जाता है; अगर वह जानता होता तो इस तरह बकवाद न करता। प्रत्येक मनुष्य कहता है कि उसमें प्यार करने की ताकत है और कुछ ही समय बाद उसे दिखने लगता है कि प्यार करना उसका स्वभाव ही न था। हरएक स्त्री कहती है कि वह प्यार करती है और जल्द ही उसे पता लग जाता है कि वह प्यार नहीं कर सकती। दुनिया में प्यार सिर्फ़ बातों में है। लेकिन प्यार करना कठिन है। प्यार है कहाँ? तुम कैसे जानते हो कि प्यार का अस्तित्व है? प्रेम का पहिला लक्षण यह है कि वह व्यापार नहीं जानता। जब तक एक मनुष्य दूसरे से इसलिए प्यार करता है कि उससे कुछ फ़ायदा उठावे तब तक तुम समझो कि वह प्रेम नहीं है, वह है दूकानदारी। जहाँ कहीं खरीदने और बेचने का सवाल आया बस वहाँ प्रेम नहीं है। इसलिए जब मनुष्य ईश्वर से प्रार्थना करता है कि मुझे यह दो और मुझे वह दो तो यह प्रेम नहीं है। यह प्रेम कैसे हो सकता है? मैं तुम्हें प्रार्थना के शब्द दूँ और तुम बदले में मुझे कुछ दो। बस यही है उसका स्वरूप—सिर्फ़ दूकानदारी!

एक बड़ा राजा शिकार को जंगल में गया और उसकी वहाँ एक साधु से भेंट हुई। थोड़ी देर की बातचीत से वह साधु से इतना खुश हुआ कि उसने उससे कहा, " कुछ इनाम स्वीकार करो।"

साधु ने जवाब दिया, "नहीं, मैं अपनी इसी हालत में खुश हूँ। ये वृक्ष मुझे खाने को फल देते हैं। साफ़ जल के ये सुन्दर झरने मेरी पानी की चाह पूरी करते हैं। मैं गुफाओं में सोता हूँ। चाहे तुम शहंशाह क्यों न हो, मुझे तुम्हारे इनामों की कोई चाह नहीं।" सम्राट बोला, "मुझे पवित्र करने और संतोष देने के लिए तुम कुछ भेंट स्वीकार करो और मेरे साथ शहर में आओ।" आखिर साधु मान गया और वह बादशाह के साथ महल में पहुँचा जहाँ सोना, रत्न, संगमरमर और दूसरी आश्चर्यजनक वस्तुएँ रखी हुई थीं। प्रत्येक स्थान में दौलत और हुकूमत दृष्टिगोचर हो रही थी। बादशाह ने साधु को एक मिनट ठहरने के लिए कहा और एक कोने में जाकर प्रार्थना करने लगा, "हे परमेश्वर, मुझे अधिक पैसा, अधिक सन्तान और अधिक देश दे।" इधर साधु उठ खड़ा हुआ और चलने लगा। बादशाह ने जब देखा कि वह जा रहा है तो उसके पीछे जाकर बोला, "महाराज, ठहरो। आपने मेरी भेंट स्वीकार नहीं की।" साधु मुँह फेरकर बोला, "भिखारी, मैं भिखमंगों से कुछ नहीं माँगता। तुम मुझे क्या दे सकते हो? तुम तो खुद ही माँग रहे थे।" यह प्रेम की भाषा नहीं है। अगर तुमने ईश्वर से कहा मुझे यह दे और वह दे तो फिर तुम्हारे प्यार में और दूकानदारी में क्या अन्तर रहा? प्रेम का पहला लक्षण यह है कि प्रेम व्यापार नहीं जानता। प्रेम सदा देते ही आया है, लेते कभी नहीं आया है। ईश्वर के एक लड़के ने कहा है, "अगर ईश्वर की इच्छा हो तो मैं उसे

अपना सर्वस्व देने को तैयार हूँ लेकिन इस दुनिया में उससे मैं कुछ नहीं चाहता। मैं उसे इसलिए प्यार करता हूँ कि मैं प्यार करना चाहता हूँ। वह मुझे कुछ दे यह बदले में नहीं माँगता। यह किसे परवाह है कि परमेश्वर सर्व शक्तिमान है या नहीं। मैं उससे किसी प्रकार की सिद्धि या हुकूमत नहीं चाहता। मेरे लिए यह काफ़ी है कि वह मेरे प्यार का परमेश्वर है। ज़्यादा सवाल मैं नहीं उठाना चाहता।"

प्यार का दूसरा लक्षण यह है कि वह डर नहीं जानता। जब तक मनुष्य परमेश्वर की ऐसी कल्पना करता है कि वह एक हाथ में पारितोषिक और दूसरे हाथ में दण्ड लिए हुए मेघों के बीच बैठा हुआ एक व्यक्ति है तब तक वहाँ प्यार नहीं हो सकता। क्या तुम डराकर किसी से प्यार करा सकते हो। मेमना क्या शेर से प्यार कर सकता है और चूहा बिल्ली से या नौकर मालिक से? नौकरों ने कभी कभी प्यार पैदा किया है लेकिन क्या वह प्यार है? डर में प्यार तुमने कब और कहाँ देखा? वह है मज़ाक। प्यार के साथ डर का विचार भी कभी नहीं आता। मान लो एक नौजवान माँ सड़क में खड़ी है। अगर उस पर कोई कुत्ता भौंकता है तो वह पास वाले घर में चटपट दौड़ जाती है। अब कल्पना करो कि दूसरे दिन वह अपने बालक को लिये हुए सड़क में खड़ी है और इतने में शेर झपट आता है। उस मौके पर उसकी क्या हालत होती है? बच्चे का संरक्षण करते हुए वह प्रत्यक्ष

शेर के मुँह के सामने तुमको दिखलाई देगी। प्यार ने उसका सारा डर जीत लिया। इसी तरह ईश्वर के प्यार के विषय में जानो। किसे यह परवाह है कि ईश्वर दण्ड देनेवाला है या पारितोषिक? प्रेमी के ऐसे विचार ही नहीं होते। मान लो एक न्यायाधीश अपने घर आ रहा है। उसकी औरत उसे किस दृष्टि से देखेगी? न तो न्यायाधीश की दृष्टि से ही और न पारितोषिक देने वाले या दण्ड देने वाले की ही दृष्टि से वरन् एक पति की दृष्टि से, एक प्यार करने वाले की दृष्टि से। उसके लड़के उसे किस दृष्टि से देखते हैं? उन्हें प्यार करने वाले पिता की दृष्टि से, न कि दण्ड देने वाले या पारितोषिक देने वाले की दृष्टि से। वैसे ही परमेश्वर के सुपुत्र उसको दण्ड देने वाले या पारितोषिक देनेवाले की दृष्टि से कभी नहीं देखते। जिन्होंने कभी प्यार का मज़ा नहीं लिया है वे ही लोग डरते और काँपते हैं। सब डर निकाल डालो। परमेश्वर दण्ड करने वाला है या इनाम देने वाला है ये भीषण कल्पनाएँ मनुष्य की जंगली अवस्था में ही उसे उपयुक्त होती हैं। कुछ मनुष्य खूब बुद्धिप्रधान होने पर भी अध्यात्म-दृष्टि से जंगली ही होते हैं। ऐसे मनुष्यों के लिए ये कल्पनाएँ उन्हें मदद देने वाली हैं। लेकिन वे मनुष्य जो धार्मिक हैं, वे मनुष्य जिनकी धर्म की ओर गति हो रही है, वे जिनके दिव्य चक्षु खुल गये हैं, इन कल्पनाओं को बालक की कल्पनाओं के समान समझते हैं—निरी मूर्खता समझते हैं। ऐसे मनुष्य डर की कल्पना भी निकाल डालते हैं।

तीसरा लक्षण इससे भी कठिन परीक्षा है। प्रेम सदा ही उच्चतम आदर्श रहा है। जब मनुष्य पहिली दो अवस्थाएँ पार कर लेता है, जब वह दूकानदारी छोड़ देता है और डर निकाल डालता है, तब उसकी समझ में आने लगता है कि प्रेम उच्चतम आदर्श है। एक सुंदर स्त्री ने एक भद्दे पुरुष से प्यार किया है, तथा एक सुंदर पुरुष ने भद्दी औरत से प्यार किया है—क्या ऐसा इस दुनिया में कितनी ही बार नहीं हुआ है? यह आकर्षण क्यों? देखने वालों को वह सिर्फ भद्दा मनुष्य या भद्दी स्त्री ही दिखलाई देती है लेकिन प्रेमी को नहीं। प्रेमी को अपनी प्रेयसी सब जीवों में अत्यन्त सुंदर दिखाई देती है। ऐसा क्यों? वह सुंदरी जो एक भद्दे मनुष्य को प्यार करती है अपने मन में विद्यमान अपनी सौंदर्यविषयक कल्पना उस भद्दे मनुष्य पर बढ़ाकर डाल सी देती है और वह जो पूजती है वह उस भद्दे मनुष्य को नहीं बल्कि अपने प्रेम के आदर्श को। यह मनुष्य सिर्फ उद्दीपक है और वह स्त्री उस पर अपने प्रेम का आदर्श आरोपित कर उसे ढँक लेती है। इस तरह वह उसकी पूजा का विषय बन जाता है। यह सत्य प्रेम के प्रत्येक विषय में लागू है। हममें से बहुतों के बहिन भाई दिखने में बिलकुल ही साधारण होते हैं, लेकिन यह कल्पना ही कि वे भाई या बहिनें हैं उन्हें सुंदर बना देती है।

'प्रत्येक मनुष्य अपने आदर्श की कल्पना दूसरे पर आरोपित कर फिर उसे पूजता है,' यही तत्त्व इसकी पार्श्वभूमि में है। यह

बाह्य जगत् सिर्फ उद्दीपक है। जो कुछ हम देखते हैं वह हमारे मन की उस पर लगी हुई छाप है। घोंगी में रेत का एक कण घुस जाता है और संचालन शुरू कर देता है। उस संचालन से घोंगी द्रवने लगती है और वह रेत का कण उस द्रव पदार्थ से बिलकुल ढँक जाकर मोती बन जाता है। उसी तरह बाह्य वस्तुओं से हमें सिर्फ उद्दीपन मिलता है और उनकी ओर हमारे आदर्शों को बढ़ाकर हम अपने जगत् को बनाते हैं। दुष्ट मनुष्य इस दुनिया को पूरे तौर से नरक देखता है पर अच्छे मनुष्य को वही दुनिया पूरे तौर से स्वर्ग प्रतीत होती है। प्रेमियों के लिए दुनिया प्रेम से भरी है पर द्वेष्टाओं के लिए द्वेष से। झगड़ने वाले सिर्फ लड़ाई ही देखते हैं और शान्त व्यक्ति, शान्ति को। इसी तरह पूर्ण विकसित मनुष्य परमेश्वर को ही देखते हैं, अन्य किसी को नहीं; सदा हम अपने उच्चतम आदर्श ही की पूजा किया करते हैं। और जब हम उस अवस्था को पहुँच जाते हैं, जब हम प्रेम ही प्रेम का आदर्श समझकर उससे प्यार करते हैं तब सब वाद खतम हो जाते हैं और संशय गायब हो जाते हैं। यह किसे परवाह होती है कि परमेश्वर इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष देखा जा सकता है या नहीं? वह आदर्श तो मुझ में से कभी लुप्त नहीं हो सकता, क्योंकि वह मेरी सत्ता का एक अंश है। जब मुझे स्वयं के अस्तित्व में संशय आवेगा तब मैं अपने आदर्श में शंका करूँगा और जिस तरह मुझे पहिले विधान में शंका नहीं आती उसी तरह दूसरे में भी नहीं आ सकती।

यह किसे परवाह है कि परमेश्वर एक ही समय सर्वशक्तिमान तथा दयामय है या नहीं? यह किसे चिन्ता है कि वह मानव-समाज को पारितोषिक देगा या उसे एक जल्लाद की नज़र से देखेगा अथवा कल्याण करने वाले बादशाह की नज़र से? प्रेमी तो इन सब कल्पनाओं से अतीत हो चुका है। वह पारितोषिक और दण्ड से अतीत हो गया है, वह शंका और डर से अतीत हो गया है, वह वैज्ञानिक तथा अन्य प्रयोगों से अतीत हो गया है। प्रेम के आदर्श से ही उसकी तृप्ति हो जाती है। क्या यह स्वतःप्रमाण नहीं है कि यह विश्व प्रेम का प्रकाश मात्र है? अणु का अणु से कौन संयोग करता है और परमाणु परमाणुओं से कैसे जुड़ जाते हैं? ग्रहमालिकाओं को एक दूसरे की ओर कौन दौड़ाता है? वह क्या है जिससे मनुष्य मनुष्य की ओर खिंचता है और पुरुष स्त्री की ओर, स्त्री पुरुष की ओर, जीव जीव की ओर और सम्पूर्ण विश्व मानो एक केन्द्र की ओर? यह जिसे हम प्रेम कहते हैं वह है। छोटे से छोटे अणु से लेकर उन्नततम जीव में यह प्रकट हो रहा है। यह प्रेम ही सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है। वह प्रेमस्वरूप परमात्मा ही चेतन तथा अचेतन सृष्टि में, व्यष्टि तथा समष्टि में आकर्षण-स्वरूप में प्रकट हो रहा है। विश्व को गतिमान करने वाली अगर कोई शक्ति है तो वही है। उसी प्रेम की प्रेरणा से ईसामसीह मनुष्य जाति के लिए आत्मसमर्पण करता है, बुद्ध जानवरों के भी लिए, माँ बच्चे के लिए और पति पत्नी के

लिए। इसी प्रेम से अनुप्रेरित हो मनुष्य अपने देश के लिए प्राण अर्पण करने को तैयार होते हैं। कहने के लिए भले ही अजब हो लेकिन इसी प्रेम की चेतना से चोर चोरी करता है और खूनी खून! इन उदाहरणों में भी वही तत्त्व है; सिर्फ़ आविष्कार भिन्न है। यह अकेली ही विश्व को चेतना देने वाली शक्ति है। चोर को सुवर्ण से प्यार होता है, प्यार यहाँ भी मौजूद है; किन्तु वह गलत मार्ग से चलाया गया है। इसी तरह सब सद्गुणों में और सब दुर्गुणों में यह शाश्वत प्रेम सदा विद्यमान है। कल्पना करो कि न्यूयॉर्क के गरीबों के लिए १००० डॉलर का दानपत्र एक मनुष्य लिखता है और उसी समय और उसी कमरे में दूसरा एक मनुष्य अपने मित्र के जाली दस्तखत तैयार करता है। वह उजेला जिसमें दोनों लिख रहे थे एक ही है, लेकिन उसके उपयोग के अनुसार प्रत्येक अपने काम के लिए जवाबदार होगा। उजेले के लिए न तो प्रशंसा ही है और न दोष। प्रेमस्वरूप परमात्मा सर्वातीत होने पर भी प्रत्येक वस्तु में प्रकाशमान है। विश्व की अगर कोई ऐसी संचालक शक्ति है जिसके अभाव में इस दुनिया के एक क्षण में टुकड़े टुकड़े हो जायेंगे तो वह है यह प्रेम और यह प्रेम ही परमेश्वर है।

"अरी, यदि कोई स्त्री अपने पति से प्यार करती है तो पति के लिए नहीं, लेकिन पति में विद्यमान आत्मा के कारण ही। अरी, ऐसा कोई पुरुष नहीं था जिसने पत्नी को पत्नी की हैसियत से प्यार किया

हो, बल्कि किया पत्नी मे विद्यमान आत्मा की हैसियत से। किसी व्यक्ति ने कभी भी किसी वस्तु का प्यार आत्मा को छोड़ अन्य किसी वस्तु के कारण नहीं किया है।" इतनी दूषित यह स्वार्थी वृत्ति भी उसी प्यार का आविष्कार है। इस खेल से ज़रा दूर जाकर खड़े रहो। ज़रा उसमें भाग न लो और इस अद्‌भुत दर्शन को देखते रहो। देखो एक के बाद एक होने वाले प्रवेशों द्वारा यह आश्चर्यजनक नाटक किस तरह खेला जा रहा है और ज़रा उसके समन्वय के संगीत को सुनो। यह सब उसी प्रेम का प्रत्यक्ष आविष्कार है। स्वार्थी वृत्ति से भी वह व्यक्ति बढ़ता ही जावेगा और दुगना चौगना बढ़ेगा—वह एक ही व्यक्ति शादी होने पर दुगना बनेगा और बच्चे होने पर कई गुना। इस तरह वह बढ़ता जाता है जब तक कि वह सम्पूर्ण जगत् को, समस्त विश्व को स्वयं अपनी आत्मा ही न समझ ले। इस तरह बढ़ते बढ़ते वह उस विश्वव्यापक अनन्त प्रेम से एकरूप हो जाता है जो स्वयं भगवान् हैं।

इस तरह जिसे परा भक्ति कहते हैं वहाँ तक हम आये—जहाँ प्रतीक तथा मूर्तियाँ गायब हो जाती हैं। जो इस परा भक्ति को पहुँच जाता है वह किसी सम्प्रदाय का नहीं रह सकता, क्योंकि सब सम्प्रदाय उसमें ही विद्यमान हैं। वह किस पंथ का हो सकता है? क्योंकि सब मंदिर और गिरजाघर तो उसमें ही विद्यमान हैं। ऐसा कौनसा गिरजा है जो इसके लिए काफ़ी हो सकता है? ऐसा मनुष्य स्वयं को कोई मर्यादित कल्पनाओं द्वारा बाँध

नहीं सकता। जिस प्रेम से वह एकस्वरूप बन गया है उस अमर्याद प्रेम की मर्यादा कहाँ लगाई जा सकती है? जिन जिन धर्मों ने इस आदर्श भक्ति को अपनाया है उन्होंने उसे प्रत्यक्ष प्रकट करने का कसकर प्रयत्न किया है, यही हम देखते हैं। यद्यपि हम समझ सकते हैं कि यह प्रेम क्या चीज़ है और यद्यपि इस दुनिया में सब प्रकार का प्रेम तथा आकर्षण उस अनन्त प्रेम का ही एक प्रकट रूप है, जिसका वर्णन विभिन्न सम्प्रदायों के साधु-सन्तों ने किया है, तो भी हम यही देखते हैं कि वे अपना सम्पूर्ण भाषासामर्थ्य पार्थिव प्रेम को दैवी प्रेम में रूपान्तरित करने में ही लगाते हैं। सामान्य कामुक प्रेमियों के ही शब्दों में वे भगवत्प्रेम के गीत गाया करते हैं।

एक हिब्रु राजर्षि ने गाया है तथा भारतवर्ष के ऋषिगण भी गाते हैं, "ऐ प्यारे, अपने ओष्ठों का एक चुम्बन मुझे दे—तेरे चुम्बन से तेरे लिए हमारी पिपासा बढ़ती ही जाती है। सारे दुःख खतम हो जाते हैं। मनुष्य वर्तमान, भूत, भविष्य सब भूल जाता है और अकेले तुझे ही सोचता है।" जब प्रेमी की सब वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं तो उसका मस्तानापन इस स्वरूप का होता है। कौन मुक्ति की परवाह करता है? किसे छुटकारा पाने की चिन्ता है? कौन पूर्ण बनना चाहता है? और किसे स्वातन्त्र्य की परवाह है? प्रेमी इस तरह गाता है:—

"न तो मैं दौलत ही चाहता हूँ और न तन्दुरुस्ती। न मैं सौन्दर्य ही चाहता हूँ और न बुद्धि। दुनिया में जो दुःख विद्यमान

हैं उनमें मुझे बारबार जन्म लेने दो, लेकिन मैं कभी शिकायत न करूँगा। बस मुझे तू अपने से प्यार करने दे, प्यार के लिए प्यार करने दे।" यही है प्रेम का उन्माद जो इन गीतों में प्रकट हो रहा है। अगर सबसे उच्च, अत्यन्त परिस्फुट तथा गहरा एवं आकर्षक किसी का प्यार हो सकता है तो वह है स्त्री का पुरुष से और पुरुष का स्त्री से। इसीलिए गम्भीर भक्ति के आविष्कार में ऐसी भाषा का उपयोग किया गया है। मानवी प्रेम का यह उन्माद साधुओं के प्रेमोन्माद की एक अस्पष्ट प्रतिध्वनि मात्र है। ईश्वर के सच्चे भक्त प्यार से पागल बन जाना चाहते हैं, ईश्वर के प्रेम में झूमते हुए प्रेमोन्मत्त बन जाना चाहते हैं। प्रत्येक धर्म के साधु-संतों से बनाई हुई प्रेम की प्याली वे पी जाना चाहते हैं, अर्थात् उन साधुओं की प्रेमप्याली जिन्होंने अपने हृदय का खून ही स्वयं उसमें भर दिया है, वह प्याली जिसमें निरीह बुद्धि से ईश्वर की भक्ति करने वालों की और प्यार के लिए ही प्यार करने वालों की पवित्र आशाएँ भर दी गई हैं। प्रेम ही प्रेम का उपहार है। इस उपहार की क्या ही महिमा है! यही एक मात्र वस्तु है जो सम्पूर्ण दुःखों का अन्त कर देती है। इस प्याली के पीने से भव-रोग नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य में दैवी उन्माद आ जाता है और वह यह भी भूल जाता है कि मैं मनुष्य हूँ।

अन्त में हम यह देखते हैं कि ये अनेक पंथ उसी एक लक्ष्य की ओर झुकते हैं यानी उस पूर्ण ऐक्य की ओर। पहले हमारा

आरम्भ सदैव द्वैत में होता है। ईश्वर एक व्यक्ति है और मैं अन्य हूँ। फिर दोनों के बीच प्रेम उत्पन्न होता है। मनुष्य ईश्वर की ओर जाने लगता है और ईश्वर मानों मनुष्य की ओर आने लगता है। पितृभाव, मातृभाव, सख्यभाव, मधुरभाव इत्यादि जीवन के विभिन्न भाव मनुष्य स्वीकारता है और अन्त में वह अपने इष्ट देवता से एकरूप हो जाता है। "तू ही मैं, मैं ही तू। तुझे पूजकर मैं अपनी पूजा करता हूँ और अपने को पूजकर तेरी।" यह है मनुष्य के उस प्रेम की पराकाष्ठा जिसे ले उसने अपनी प्रेम-साधना आरम्भ की थी। आरम्भ में मनुष्य आत्मा से प्रेम करने लगा लेकिन क्षुद्र अहंकार के प्रभाव से वह प्रेम स्वार्थी बन गया। अन्त में जब आत्मा उस अनन्त से तदाकार बन गयी तो प्रकाश की पूर्ण दीप्ति प्रकट हो गई। आरम्भ में वह ईश्वर जो कहीं दूर स्थान में अवस्थित-सा मालूम होता था वही अब अनन्त प्रेमस्वरूप हो गया। स्वयं मनुष्य का ही परिवर्तन हो गया। वह ईश्वर को नज़दीक कर रहा था। अपने में भरी हुई निःसार वासनाओं को हटा रहा था। वासनाओं का लोप होते ही सारी स्वार्थबुद्धि लुप्त हो गई और उसे यह अत्यन्त स्पष्ट रूप से दिखलाई देने लगा कि प्रेम, प्रेमी तथा प्रेमास्पद सब एक ही हैं।

---

७. कर्म का रहस्य

(कर्मयोग)

(लॉस एन्जलस, कॅलिफोर्निया, में दिया हुआ भाषण, ता. ४-१-१९००)

अपने जीवन में जो मैंने एक श्रेष्ठतम पाठ पढ़ा वह यह है कि किसी भी कार्य के साधनों के विषय में उतना ही सावधान रहना चाहिए जितना कि लक्ष्य के विषय में। जिससे मैंने यह बात सीखी वह एक बड़ा महात्मा था। यह महान् तत्त्व स्वयं उनके जीवन में प्रत्यक्ष कार्यरूप में परिणत हुआ था। इस एक तत्त्व से मैं सर्वदा बड़े बड़े पाठ सीखते आया हूँ। और मेरा यह मत है कि सब प्रकार के यशों की कुंजी इस तत्त्व में है, यानी साधनों की ओर भी उतना ही ध्यान देना चाहिए जितना सिद्धि की ओर।

हमारे जीवन में एक बड़ा दोष यह है कि हम ध्येय से ही बिलकुल खिंचे रहते हैं। हमारे लिए ध्येय इतना अधिक आकर्षक होता है, ऐसा मोहक होता है और हमारे मन पर इतना प्रभाव डालता है कि बारीकियाँ (Details) हमारी नजर से ही निकल जाती हैं।

लेकिन जब कभी हमें अपयश आता है और हम उसकी छानबीन करते हैं तो नब्बे प्रतिशत हम यही पाते है कि हमने

साधनों की ओर ध्यान नहीं दिया था। जो आवश्यकता है वह यह कि हम साधनों को मज़बूत बनाने और उन्हें पूर्ण कार्यक्षम करने में अधिक ध्यान दें। अगर हमारे साधन निर्दोष हैं तो फल मिलना ही चाहिए। हम यह भूल जाते हैं कि कार्य कारण से ही जन्म लेता है, वह खुद-ब-खुद नहीं पैदा हो सकता। और जब तक कारण निर्दोष, योग्य, सक्षम न हो फल पैदा न होगा। एक बार हमने ध्येय निश्चित कर लिया और उसके साधन पक्के कर लिये कि हम ध्येय को करीब करीब छोड़ दे सकते हैं, क्योंकि हमें यह पूरा मालूम है कि अगर साधन निर्दोष हैं तो साध्य कहीं नहीं जावेगा। जब कारण विद्यमान है तो कार्य को स्वयं ही उपस्थित होना पड़ेगा। उसके बारे में विशेष चिन्ता की कोई आवश्यकता नहीं। अगर कारण के विषय में हम सावधान रहें तो कार्य स्वयं आ ही जावेगा। कार्य है ध्येय की सिद्धि; साधन है कारण। इसलिए साधन की ओर ध्यान देते रहना जीवन का एक बड़ा रहस्य है। गीता में भी हमने यही पढ़ा और सीखा है कि हमें लगातार भरसक काम करते ही जाना चाहिए; काम चाहे कोई भी हो अपना पूरा मन उस ओर लगा देना चाहिए। साथ ही फल की आसक्ति हमें न होनी चाहिए। अन्य शब्दों में, उस कार्य को छोड़कर अन्य किसी वस्तु द्वारा हमें खिंच न जाना चाहिए। पर होता यह है कि हम कोई बात हाथ में लेते हैं और अपनी पूरी ताकत उसमें लगा देते हैं। कभी कभी वह बात असफल होती है पर फिर भी हम उसका

त्याग नहीं कर सकते। यह आसक्ति ही हमारे दुःख का सब से बड़ा कारण है। हम जानते हैं कि हमें तकलीफ़ हो रही है और उसमें चिपके रहने से सिर्फ़ दुःख ही हाथ आवेगा, परन्तु फिर भी हम अपना छुटकारा उससे नहीं कर सकते। मधु-मक्खी तो शहद चाटने आई थी और उसके पैर चिपक गये उस मधुचषक से। अब वह छुटकारा नहीं पा सकती। बारबार हम यही स्थिति अनुभव करते हैं। हमारे अस्तित्व का—हमारे ऐहिक जीवन का असल रहस्य यही है। हम यहाँ आये थे मधु पीने के लिए, पर हम देखते हैं हमारे हाथ पांव उसमें फँस गये हैं। आये थे पकड़ने के लिए पर स्वयं ही पकड़ गए! आये थे उपभोग के लिए और खुद ही उपभोग्य बन बैठे! आये थे हुकूमत चलाने और हम पर ही हुकूमत चल गई! आये थे कुछ काम करने के लिए और देखते हैं कि हमसे ही काम लिया जा रहा है! हरघड़ी यही अनुभव होता है। ज़िन्दगी की छोटी छोटी बातों का भी यही हाल है। दूसरों के मन हम पर हुकूमत चलाये जा रहे हैं और हम यही कोशिश कर रहे हैं कि हमारी हुकूमत दूसरों के मनों पर चले। हम चाहते हैं कि जीवन के भोग भोगें पर वे भोग भक्षण कर जाते हैं हमारे मर्म-स्थानों को। हम चाहते हैं कि निसर्ग का पूरा फ़ायदा उठावें और अन्त में यही देखते हैं कि निसर्ग ने हमारा सर्वस्व हरण कर लिया है, हम पूरी तौर से चूस लिये गये हैं और अलग फेंक दिये गये हैं।

अगर ऐसा न होता तो जीवन हराभरा रहता। चिन्ता मत करो। यद्यपि यश आता है और अपयश भी, यद्यपि यहाँ आनंद है और दुःख भी, तो भी अगर हम बन्धन में न पड़ जाएँ तो जीवन लगातार हराभरा हो सकता है।

दुःख का एकमेव कारण यह है कि हम आसक्त हैं। हम बद्ध होते जा रहे हैं। इसीलिए गीता में कहा है, "काम करते रहो लेकिन उनमें आसक्त मत होओ।" बन्धन में मत पड़ो। प्रत्येक वस्तु से अपने आपको स्वतंत्र बना लेने की अपनी शक्ति जमा किये रहो। वह वस्तु तुम्हें बहुत प्यारी भले ही हो, तुम्हारा प्राण उसके लिए चाहे जितना ही लालायित क्यों न हो, उसके त्यागने में तुम्हें चाहे जितना कष्ट उठाना पड़े, फिर भी अपनी इच्छानुसार त्याग करने की अपनी शक्ति मत खो बैठो। कमज़ोर न तो इस दुनिया के जीवन के योग्य हैं और न अन्य किसी जीवन के। दुर्बलता से मनुष्य गुलाम बनता है। दुर्बलता के कारण ही मनुष्य पर सब प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख आते हैं। दुर्बलता यानी मृत्यु। सैकड़ों और हज़ारों कीटाणु आज हमारे आस पास हैं, लेकिन जब तक हमारा शरीर उनके स्वागत के अनुकूल नहीं बन जाता तब तक वे हमें कोई नुकसान नहीं पहुँचा सकते। ऐसे करोड़ों दुःखरूपी कीटाणु हमारे आस पास क्यों ही न घूमते रहें। कुछ चिन्ता न करो। उनकी हिम्मत नहीं कि वे हमारे नज़दीक आवें। उनमें ताकत नहीं कि वे हम पर हमला करें अगर हमारा

मन कमज़ोर नहीं है। यह एक बड़ा सत्य है। बल ही जीवन है और दुर्बलता ही मरण है। बल ही अपार सौख्य है। वही चिरंतन और शाश्वत जीवन है। दुर्बलता ही मृत्यु है।

आसक्ति ही सब सांसारिक सुखों की जननी है। हम अपने मित्रों और रिश्तेदारों में आसक्त होते हैं। हम बौद्धिक और आध्यात्मिक कार्यों में आसक्त रहते हैं। हम बाह्य वस्तुओं में आसक्त हैं इसलिए कि उनसे हमें सुख मिले। पर सोचो इसी आसक्ति के व्यतिरिक्त अन्य किस कारण से हम पर दुःख आता है? आनंद प्राप्त करने के लिए हमें अनासक्त होना चाहिए। अगर इच्छा मात्र से अनासक्त होने की हममें ताकत हो तो हमें कभी दुःख न होगा। वही मनुष्य निसर्ग से सम्पूर्ण फ़ायदा उठा सकेगा जो वस्तुओं में अपनी पूरी ताकत से आसक्त होने के बाद स्वेच्छानुसार उनसे विभक्त भी हो सके। कठिनता यह है कि मनुष्य में विभक्त होने का भी उतना ही सामर्थ्य चाहिए जितना आसक्त होने का। दुनिया में ऐसे भी मनुष्य हैं जो किसी वस्तु से कभी आकर्षित नहीं हुए। उन्होंने कभी प्यार नहीं किया। वे कठोर और प्रतिकूल वृत्ति के होते हैं। ऐसे लोग दुनिया के अधिकांश दुःखों से छुटकारा पा जाते हैं। लेकिन दीवार कभी कोई दुःख अनुभव नहीं करती। दीवार कभी प्यार नहीं करती और न उसे कष्ट ही होता है। पर दीवार अन्त में दीवार ही है। दीवार बनने से तो आसक्त होना और बँध जाना निश्चय ही

अच्छा है। इसलिए जो मनुष्य कभी प्यार नहीं करता, जो कठोर और पाषाण-हृदयी है और इसी कारण जीवन के अनेक दुःखों से छुटकारा पा जाता है, वह जीवन के अनेक सुखों से भी हाथ धो बैठता है। हम यह नहीं चाहते। यह दुर्बलता है। यह मृत्यु है। जो कभी दुःख नहीं अनुभव करता, जो कभी दुर्बलता नहीं अनुभव करता वह चेतन नहीं है। वह संज्ञाशून्य है। हम यह नहीं चाहते।

लेकिन साथ ही साथ हम सिर्फ़ यही नहीं चाहते कि केवल यह प्रेम की अथवा आसक्ति की महान् शक्ति हममें आ जावे या एक ही वस्तु पर सारी लगन लगाने की ताकत हममें आ जावे, या दूसरों के लिए हम अपना सर्वस्व खो बैठे और स्वयं का विनाश भी कर डालें जो देवताओं का गुण है, वरन् हम देवताओं से भी उच्चतर होना चाहते हैं। सिद्ध पुरुष अपनी सम्पूर्ण लगन प्रेम की वस्तु पर लगा सकता है और फिर भी अनासक्त रह सकता है। यह कैसे सम्भव है? एक दूसरा भी रहस्य है जो सीखना चाहिए।

भिखारी कभी सुखी नहीं होता। उसे सिर्फ़ भीख ही मिलती है और वह भी दया और तिरस्कार से युक्त। कम से कम पार्श्वभूमि में यह तो कल्पना अवश्य ही होती है कि भिखारी एक निकृष्ट जीव होता है। जो कुछ वह पाता है उसका सचमुच उसे उपभोग नहीं मिलता।

हम सब भिखारी हैं। जो कुछ हम करते हैं उसके बदले में हम फ़ायदा चाहते हैं। हम लोग हैं व्यापारी। हम जीवन के व्यापारी हैं, गुणों के व्यापारी हैं, धर्म के व्यापारी हैं। अफ़सोस! हम प्यार के भी व्यापारी हैं।

अगर तुम व्यापार करने चलो तो वह सवाल है लेन-देन का, बेचने और मोल लेने का, ख़रीद और बिक्री के कानून पालने का। कभी समय अच्छा होता है और कभी बुरा। भाव में चढ़ाव उतार होता रहता है और कब चोट आ लगे यही तुम सोचते रहते हो। व्यापार आइने में देखने के समान है। तुम्हारा प्रतिबिम्ब उसमें पड़ता है। तुम मुँह बनाओ और आइने में मुँह बन जाता है। तुम हँसो और आइना हँसने लगता है। यह है ख़रीद और बिक्री, लेन और देन।

हम फँस जाते हैं। क्यों? इसलिए नहीं कि हम कुछ देते हैं बल्कि इसलिए कि हम कुछ मिलने की अपेक्षा रखते हैं। हमारे प्यार का बदला हमें मिलता है दुःख। इसलिए नहीं कि हम प्यार करते हैं बल्कि इसलिए कि हम बदले में चाहते हैं प्यार। जहाँ चाह नहीं है वहाँ दुःख भी नहीं है। कामना, इच्छा यही दुःखों की जननी है। वासनाएँ यशापयश के नियमों से बद्ध हैं। वासनाओं का परिणाम दुःख होना ही चाहिए।

सच्चे सुख और यश का यही सब से बड़ा रहस्य है। वही मनुष्य जो बदले में कुछ नहीं चाहता, जो बिलकुल निःस्वार्थी है

पूर्ण यशस्वी है। यह विरोधाभास-साप्रतीत होता है। क्या हम यह नहीं जानते कि जो निःस्वार्थी हैं वे इस जीवन में ठगे जाते हैं और उन्हें तकलीफ़ भी दी जाती है? ऊपरी तौर से देखो तो यह सच है। ईसामसीह निःस्वार्थी थे। सच है, लेकिन हम जानते हैं कि उनके निःस्वार्थ होने से ही उन्हें बड़ा यश मिला, लाखों और करोड़ों जीवों को सच्चे यश का आशीर्वाद मिला।

किसी वस्तु के लिए प्रार्थना मत करो। कोई वस्तु बदले में मत माँगो। तुम्हारे पास जो कुछ देने को हो दे दो। वह तुम्हें वापस मिल जायेगा लेकिन उसका आज ही विचार मत करो। तुम्हें वह हज़ार गुना वापस मिलेगा, लेकिन तुम अपनी दृष्टि उधर मत रखो। देने की ताकत पैदा करो। दे दो और बस काम खतम हो गया। यह बात सीखो कि सम्पूर्ण जीवन दानस्वरूप है; प्रकृति तुम्हें देने के लिए मजबूर करेगी। इसलिए स्वेच्छापूर्वक दो, एक न एक दिन तुम्हें दे देना ही पड़ेगा। जिन्दगी में जोड़ने के लिए आते हो। मुट्ठी बाँधकर आये हुए तुम, चाहते हो लेना। लेकिन प्रकृति तुम्हारा गला दबाती है और तुम्हें मुट्ठी खोलने को मजबूर करती है। तुम्हारी इच्छा हो या न हो तुम्हें देना ही पड़ेगा। जिस क्षण ही तुम कहते हो कि 'मैं न दूँगा' घूँसा पड़ जाता है और तुम चोट खा जाते हो। दुनिया में आये हुए प्रत्येक व्यक्ति को अन्त में अपना सर्वस्व दे देना होगा और इस नियम के विरुद्ध बरतने को मनुष्य जितनी अधिक कोशिश करता है उतना ही अधिक वह दुःखी होता

है। हम इसीलिए दुखी हैं कि हममें देने की हिम्मत नहीं है, इसलिए कि प्रकृति की यह उदात्त माँग पूरी करने के लिए आवश्यक आत्मसमर्पण की वृत्ति का हममें अभाव है। जंगल साफ हो जाता है, लेकिन बदले में हमें उष्णता मिलती है। सूर्य समुद्र से पानी लेता है इसलिए कि वह वर्षा करे। तुम लेन देन के यंत्र मात्र हो। तुम इसलिए लेते हो कि तुम दो। इसलिए बदले में कुछ भी मत माँगो। तुम जितना ही अधिक दोगे उतना ही अधिक तुम्हें वापस मिलेगा। जितनी ही जल्दी इस कमरे की हवा तुम खाली करोगे उतनी ही जल्दी वह बाहरी हवा से भर आवेगी, लेकिन अगर तुम सब दरवाजे खिड़कियाँ बंद कर दोगे तो भले ही अन्दर की हवा अन्दर रह जावे, पर बाहरी हवा कभी अन्दर न आवेगी और अन्दर की हवा भी दूषित, गंदी और विषैली बन जावेगी। नदी अपने आप को समुद्र में लगातार खाली किये जा रही है और वह लगातार भरती आ रही है। समुद्र की ओर गमन बंद मत करो। जिस क्षण तुम ऐसा करते हो मृत्यु तुम्हें आ दबाती है।

इसलिए भिखारी मत बनो। अनासक्त रहो। जीवन का यही एक अत्यन्त कठिन कार्य है। राह पर खड़े तुम राह सम्बन्धी आपत्तियों का हिसाब नहीं लगाते। कल्पनाशक्ति द्वारा आपत्तियों का चित्र खड़ा करने से भी तुम्हें उनका सच्चा ज्ञान नहीं होता जब तक कि तुम प्रत्यक्ष अनुभव न करो। दूर से बगीचे का विहंगम दृश्य दिख सकता है, लेकिन इससे क्या? उसका सच्चा

ज्ञान और अनुभव अन्दर जाने पर हमें होता है। चाहे हमें प्रत्येक कार्य में अपयश मिले, हमारे टुकड़े टुकड़े हो जावें और खून बहने लगे, फिर भी हमें अपना हृदय थाम कर रखना होगा। इन आपत्तियों में ही अपना ईश्वरत्व हमें चलाना होगा। प्रकृति चाहती है कि हम प्रतिक्रिया करें; घूँसे के लिए घूँसा, झूठ के लिए झूठ और चोट के लिए भरसक चोट लगावें। पर बदले में आघात न करने के लिए, वजन सम्हाले रहने के लिए तथा अनासक्त होने के लिए अतिदैवी शक्ति की आवश्यकता होती है।

अनासक्त बनने का अपना निश्चय हम प्रतिदिन दुहराते हैं। आसक्ति के और प्रेम के विषयों की ओर पीछे घूमकर देखते जाते हैं। उनमें से प्रत्येक वस्तु ने हमें कैसे दुखी बनाया यह भी हमें अनुभव होता है। हमारे 'प्यार' के कारण हमें निराशा के सागर की तली तक जाना पड़ा। हमने देखा कि हम सिर्फ़ दूसरों के गुलाम ही रहते आये और नीचे ही नीचे खिंचते गये। हम फिर से नया इरादा करते हैं। 'आज से मैं खुद पर अपनी हुकूमत चलाऊँगा, मैं अपना स्वामी बनूँगा।' लेकिन वक्त आता है और फिर वही पहिली कहानी। हम फिर बन्धन में पड़ जाते हैं और मुक्त नहीं हो पाते। पक्षी जाल में फँस जाता है, छटपटाता है, फड़फड़ाता है। यह है हमारा जीवन।

मुझे इन आपत्तियों का ज्ञान है; वे भयानक हैं। नब्बे प्रति-शत निराश हो धैर्य खो बैठते हैं या यह कहिए कि प्रायः निराशा-वादी बन जाते हैं अर्थात् प्रेम और सचाई में विश्वास करना छोड़ देते हैं। जो कुछ दिव्य एवं भव्य है उस पर से भी उनका विश्वास

उठ जाता है। इसी तरह हम यह भी देखते हैं कि जो मनुष्य जीवन के आरम्भ में क्षमाशील, दयालु, सरल और निष्पाप थे बुढ़ापे में झूठे और पाखण्डी बन जाते हैं। उनका मन चालाकियों का गोला बन जाता है। हो सकता है कि इसमें अधिकांश लोग ऐसे सिर्फ़ ऊपर से ही हों। वे गरम मिज़ाज के न हो, लेकिन वे बोलते नहीं हैं; यह अच्छा होगा कि वे बोलें। वे न तो शाप देते हैं और न क्रोध करते हैं लेकिन यह उनके लिए हज़ार गुना अच्छा होगा अगर वे शाप दे सकें; अधिक अच्छा होगा अगर वे क्रोध कर सकें। वे असमर्थ हैं। उनके हृदयों पर मृत्यु ने अधिष्ठान जमा लिया है, क्योंकि मृत्यु के ठंडे हाथ उनके हृदय पर पड़ने लग गये हैं। अब वह हृदय शाप देने को भी हलचल नहीं कर सकता, एक कड़ा शब्द भी उपयोग में नहीं ला सकता।

यह आवश्यक है कि हम इन सबसे बचें। इसलिए मैं कहता हूँ कि अतिदैवी शक्ति की ज़रूरत है। अतिमानव शक्ति से नहीं बनेगा। अतिदैवी शक्ति ही एक और एकमेव छुटकारे का मार्ग है। सिर्फ़ उसी बल पर इन उलझनों में से, इन आपत्तियों की इस बौछार में से बिना झुलसे हम पार जा सकते हैं। चाहे हमारे टुकड़े टुकड़े हो जावें और हम फट जावें लेकिन हमारा हृदय अधिकाधिक उदार होते जाना चाहिए।

यह बहुत कठिन है, लेकिन यह कठिनाई लगातार अभ्यास द्वारा दूर की जा सकती है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि

जब तक हम इतने कमज़ोर न होजाएँ कि हम उससे प्रभावित हो जाएँ हमें कुछ नहीं होता। मैने अभी कहा है कि जब तक शरीर स्वागत न करे मुझे कोई रोग न होगा। रोग होना सिर्फ़ कीटाणुओं पर ही अवलम्बित नहीं है, यह है शरीर की पूर्वानुकूलता पर भी। हमें वही मिलता है जिसके लिए हम पात्र हैं। आओ, हम अपना अभिमान छोड़ दें, और यह सीखें कि कोई आपत्ति ऐसी नहीं है जिसके हम पात्र न थे। फ़िज़ूल चोट कभी नहीं पड़ी, ऐसी कोई बुराई ही नहीं है जो मैंने स्वयं अपने हाथों न बुलाई हो। इसका हमें ज्ञान होना चाहिए। तुम आत्मनिरीक्षण कर देखो और देखोगे कि ऐसी एक भी चोट तुम्हें नहीं लगी जो स्वयं तुम्हारी की गई न हो। आधा काम तुमने किया और आधा बाहरी दुनिया ने, और इस तरह तुम्हें चोट लगी। यह विचार हमें गम्भीर बना देगा। लेकिन साथ ही साथ आशा की आवाज़ भी आवेगी। वह इस प्रकार से। बाह्य जगत् पर मेरा प्रभुत्व नहीं, लेकिन जो मेरे अन्दर है, जो मेरे अधिक निकट है, वह मेरा अन्तर्जगत् मेरे अधिकार में है। अगर अपयश आने के लिए दोनों दुनियाओं के संयोग की आवश्यकता है, अगर चोट लगने के लिए दोनों इकट्ठे होना ज़रूरी है तो मेरे अधिकार में जो दुनिया है उसे मैं सहमत न होने दूँगा, फिर देखूँगा कि मुझे चोट कैसे लगती है? अगर मैं खुद पर सच्चा प्रभुत्व पा जाऊँ तो चोट कभी न लग सकेगी।

हम बचपन ही से किसी दूसरी वस्तु पर दोष मढ़ना सीखते हैं, ऐसी वस्तु पर जो हम से निराली है। हम सदा दूसरों के

सुधार में तत्पर रहते हैं लेकिन अपने नहीं। अगर हम दुखी होते हैं तो चिल्लाते हैं कि "यह तो शैतान की दुनिया है।" हम दूसरों को दोष देते हैं और कहते हैं कि कैसे मोहग्रस्त पागल हैं, लेकिन अगर हम सचमुच इतने अच्छे हैं तो हम ऐसी दुनिया में क्योंकर हैं? अगर यह शैतान की दुनिया है तो हमें भी शैतान ही होना चाहिए, नहीं तो हम यहाँ क्यों आते? "अफसोस, सारी दुनिया स्वार्थी है।" सच है, लेकिन अगर हम अच्छे हैं तो फिर हमारा उनसे सम्बन्ध कैसे हुआ? ज़रा यह सोचो।

जो हमारे योग्य था वही हम पाते हैं। जब हम कहते हैं कि दुनिया बुरी है और हम अच्छे तो यह झूठ है। ऐसा असम्भव है। यह एक भीषण असत्य है जो हम बोल रहे हैं।

पहला पाठ पढ़ना है यह। निश्चय कर लो कि बाहरी किसी भी वस्तु पर मैं दोष न मढूँगा, उसे अभिशाप न दूँगा। मनुष्य बनो और डटकर खड़े रहो। दोष खुद को लगाओ। तुम अनुभव करोगे कि यह सच था। स्वयं अपने को वश में करो।

क्या यह लज्जा का विषय नहीं है कि एक बार तो हम अपने मनुष्यत्व की, देवता बनने की बड़ी बड़ी बात करें, हम कहें कि हम सर्वज्ञ हैं, सब कुछ करने में समर्थ हैं, निर्दोष हैं, पापहीन हैं और दुनिया में सबसे निःस्वार्थी हैं और दूसरे ही क्षण एक छोटा-सा पत्थर भी हमें चोट पहुँचा दे? या किसी साधारण से साधारण मनुष्य का भी जरासा क्रोध हमें जखमी कर दे और कोई भी चलता राहगीर इन 'देवताओं' को दुखी बना दे! अगर हम देवता हैं

तो क्या ऐसा होना चाहिए? क्या दुनिया को दोष देना न्याय्य है? क्या परमेश्वर, जो अत्यन्त पवित्र और उदार है, हमारी किसी भी चालबाज़ी के कारण दुःख में पड़ सकता है? अगर तुम इतने निःस्वार्थी हो तो तुम परमेश्वर के समान हो। कौनसी दुनिया फिर तुम्हें चोट पहुँचा सकती है? सातवें नरक में से भी बिना झुलसे, बिना स्पर्श हुए तुम निकल जाओगे। लेकिन जिस लिए कि तुम शिकायत करते हो और बाहरी दुनिया पर दोष मढ़ना चाहते हो उसीसे यह साफ़ जाहिर है कि तुम्हें बाहरी दुनिया का बोध हो रहा है। तुम्हें दुःख होता है इसी से सिद्ध है कि तुम वह नहीं हो जो अपने को जतलाते हो। दुःख पर दुःख रचकर और यह मान लेकर कि दुनिया हमें चोट लगाये जा रही है तुम अपने अपराध को अधिक बड़ा बनाते जाते हो और चीख़ते जाते हो कि, 'अरे बापरे, यह शैतान की दुनिया है; यह मनुष्य मुझे चोट पहुँचा रहा है, वह मनुष्य मुझे चोट पहुँचा रहा है।' यह तो दुःख पर झूठ चुपड़ना है।

हमें अपनी ही चिन्ता करनी चाहिए। इतना ही हम कर सकते हैं। हमें कुछ समय तक दूसरों की ओर ध्यान देने का ख़्याल छोड़ देना चाहिए। हमें अपने साधन निर्दोष बना लेने चाहिए; फिर साध्य अपनी चिन्ता स्वयं कर लेगा, क्योंकि दुनिया तभी पवित्र और अच्छी हो सकती है जब हम स्वयं पवित्र और अच्छे हों। वह है साध्य और हम हैं उसके साधन। इसलिए आओ, हम ख़ुद को पवित्र बनावें! आओ, हम अपने आप को निर्दोष बना लें!